प्रकाशक—
श्री जैन जवाहिर मित्र मंडल
ब्यावर ।

मुद्रक—
श्री पन्नासिंह जैन के प्रबंध से
श्री गुरुकुल प्रि॰ प्रेस ब्यावर

प्रकाशक का निवेदन

श्री जैन जवाहिर मित्र मण्डल ब्यावर के लिए यह पहला ही अवसर है कि वह स्व० जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के अनमोल व्याख्यान-साहित्य के प्रकाशन मे सक्रिय योग दे रहा है। यह मण्डल वि० सं० २००२ की भाद्रपद शुक्ला पचमीके दिन, श्री १००८ श्री श्री पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज के चातुर्मासके/अवसर पर स्थापित हुआ था। मण्डल ने अपने शैशव काल में ही यह प्रवृत्ति आरंभ कर दी है, अतएव आशा की जाती है कि वह भविष्य मे अधिक सेवा करने योग्य सिद्ध होगा।

श्री जवाहर किरणावली की यह तेरहवीं किरण 'धर्म और धर्मनायक' है। श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम की ओर से प्रकाशित "धर्म–व्याख्या' के आधार पर प० शान्तिलाल व० शेठ न्यायतीर्थ ने इसे गुजराती भाषा में सम्पादित किया था। यह गुजराती का ही हिन्दी अनुवाद है। धर्मव्याख्या हिन्दी में मौजूद रहने पर भी गुजराती 'धर्म अने धर्मनायक' का हिन्दी में अनुवाद करने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई ? इस प्रश्न का समाधान इस अनुवाद को आदि से अन्त तक पढ़ जाने पर स्वय हो जाएगा। वस्तुत गुजराती पुस्तक मे विवेचनीय विषयों का काफी विस्तार के साथ विवेचन किया गया है और कई-एक महत्वपूर्ण प्रकरण तो एकदम नवीन जोड़े गये हैं। इस सब को देखकर और इन्हें सर्व साधारण जनता के हित के लिए आवश्यक समझकर हिन्दी में इसका प्रकाशन उपयोगी जान पड़ा।

भारतवर्ष आज नवीन युग में प्रवेश कर रहा है। राष्ट्र के सांस्कृतिक और आर्थिक ढांचे के निर्माण करने का महत्वपूर्ण कार्य आज भारतीयों के सामने है। ऐसे समय पर इस पुस्तक का प्रकाशन हमारी समझ में अत्यन्त उपयोगी है। इसमें ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म तथा संघधर्म आदि के विषय में तथा ग्रामनेता, नगरनेता, राष्ट्रनेता और संघ नेता आदि के विषय में जो महत्व पूर्ण विचार पूज्य श्री ने प्रकट किये हैं वे किसी भी स्वाधीन देश की प्रजा के लिए उपयोगी हो सकते हैं, वास्तव भारतवर्ष के लिये तो उपयोगी हैं ही। इस पुस्तक में विषयों का विवेचन ऐसे विशाल दृष्टिकोण से किया गया है कि जैन अजैन सभी इससे लाभ उठा सकते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण विचारों को हिन्दी में प्रकाशित न करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता था।

हमें खेद है कि अच्छा कागज प्राप्त न हो सकने के कारण पुस्तक की छपाई सुन्दर नहीं हो सकी है। लेकिन विषय की सुन्दरता के आगे छपाई की असुन्दरता के लिये पाठक हमें क्षमा कर देंगे ऐसी आशा है।

प्रस्तुत निबंध श्री जवाहर साहित्य समिति भीनासर (बीकानेर) की ओर से छप रही थी। हमारी प्रार्थना पर समिति के माननीय मंत्री और अपनी समाज के उत्साही कार्यकर्ता श्रीमान् सेठ चम्पालालजी सा० बांठिया ने मंडल को प्रकाशनार्थ दे देने की उदारता प्रकट की है। एतदर्थ हम समिति के और श्री बांठियाजी के आभारी हैं। श्री हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम का आभार तो मानना ही चाहिए, जिसके द्वारा प्रकाशित 'धर्मव्याख्या' के आधार पर गुजराती और हिंदी के यह संस्करण तैयार हो सके हैं।

छपाई की या अन्य किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए सूचना मिलने पर अगले संस्करण में सुधार किया जा सकेगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मंडल अभी अपने शैशव काल में ही है। विशेष आर्थिक बोझ उठाने की उसकी शक्ति नहीं है। अतएव आशा है कि समाजप्रेमी सज्जन अपने सहयोग से मण्डल को उपकृत करते रहेंगे और कार्यकर्ताओं का उत्साह बढ़ाएँगे।

रक्षा-बन्धन
वि सं २००४

निवेदक -
लाभचंन्द बाठिया
सभापति,
श्री जैन जवाहिर मित्र मंडल, ब्यावर।

विषयसूची

धर्म और धर्मनायक

किसी भी मकान या महल की मजबूती उसकी पुख्ता नींव पर अवलंबित है। इसी लिए मकान बनाते समय गहरी से गहरी और पुख्ता से पुख्ता नींव डाली जाती है।

मानव-जीवन यदि मकान के समान है तो धर्म उसकी नींव है। बिना धर्म के मानव-जीवन टिक नहीं सकता। अर्थात् धर्म के अभाव में जीवन मानव-जीवन न रह कर पाशविक जीवन बन जाता है। अत जीवन को उत्तम मानवीय जीवन बनाने के लिए धर्म रूपी नींव गहरी और पुख्ता बनाने की आवश्यकता है। धर्म रूपी नींव यदि कच्ची रहेगी तो मानव-जीवन रूपी मकान शंका, कुतर्क, अज्ञान, अनाचार और अधर्म आदि के तूफानों से हिल जाएगा और उसका पतन हुए बिना न रहेगा।

मकान की नींव मजबूत बनाने के लिए जैसे पानी की, चूने की, रेती की, सीमेंट की आवश्यकता है, उसी प्रकार पत्थर की और रस ग्रेगम आदि की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है।

इसी प्रकार मानव-जीवन रूप मकान की नींव की मजबूती के लिए सभ्यता-संस्कृति नागरिकता राष्ट्रीय भावना धार्मिकता कुलीनता, सामूहिकता तथा एकता आदि लौकिक धर्मों के पालन की सर्वप्रथम आवश्यकता है। तत्पश्चात् धर्म को जीवनधर्म बनाने के लिए विचारशीलता विचार शिक्षा आदि लोकोत्तर धर्मों के पालन की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार जब लौकिक और लोकोत्तर धर्मों का ठीक तरह समन्वय करके पालन किया जाता है तब मानव जीवन का असली उद्देश्य- मोक्ष - सिद्ध होता है।

लौकिक धर्मों का भलीभांति पालन किये बिना लोकोत्तर धर्मों का पालन करना ऐसा ही है जैसे सीढ़ियों के बिना ऊंचे महल में प्रवेश करने का निष्फल प्रयास करना। लौकिक धर्म से शरीर की और विचार की शुद्धि होती है और लोकोत्तर धर्म से अन्तःकरण एवं आत्मा की शुद्धि होती है। इस प्रकार मनुष्य लौकिक और लोकोत्तर धर्म का पालन करके अपने जीवनधर्म-आत्मिक धर्म की शुद्धि और अन्त में सिद्धि का लाभ करता है।

जीवन-धर्म की शुद्धि और सिद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से शास्त्रकारों ने लौकिक और लोकोत्तर दस रूप दस प्रकार के धर्मों की योजना की है। यही नहीं चूंकि धर्मनायकों के बिना धर्म टिक नहीं सकता, अतएव दस धर्मों के अनुरूप दस प्रकार के धर्मनायक

कों की भी सुन्दर योजना की गई है।

जैन सूत्र स्थानांग* (ठाणांग सुत्त) नामक तीसरे अंगसूत्र में निम्न लिखित दस धर्मों का विधान किया गया है—

(१) ग्राम धर्म (२) नगरधर्म (३) राष्ट्रधर्म (४) व्रत-धर्म (५) कुलधर्म (६) गणधर्म (७) संघधर्म (८) सूत्रधर्म (९) चारित्रधर्म (१०) अस्तिकाय धर्म।

इन दस धर्मों का यथावत् पालन करने के लिए तथा अन्य प्रकार की नैतिक एवं धार्मिक व्यवस्था की रक्षा करने के लिए दस प्रकार के धर्मनायकों की योजना भी की गई है। धर्मनायकों के नाम इस प्रकार हैं।—

(१) ग्रामस्थविर (२) नगरस्थविर (३) राष्ट्रस्थविर (४) प्रशास्ता स्थविर (५) कुलस्थविर (६) गणस्थविर (७) संघस्थ-विर (८) जातिस्थविर (९) सूत्रस्थविर और (१०) दीक्षास्थविर।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं दस धर्मों और धर्मनायकों की व्याख्या की जायगी।

---

* देखो ठाणांगसुत्त, दसवां ठाणा

१

ग्राम धर्म

[गाम धम्मे]

— ० —

धर्म का बीजारोपण करने के लिये मानव जाति को ग्राम-धर्म रूप भूमि की जोत करनी चाहिये। ग्रामधर्म की भूमिका मे से ही सभ्यता, नागरिकता और राष्ट्रीयता आदि अनेक धर्मांकुर फूटते हैं।

जहा साधारण जनसमूह सगठित होकर अमुक मर्यादित संख्या में बसता हो, उस बस्ती को समान्यतया 'ग्राम' कहा जाता है। ग्राम का जनसमूह जब अधिक सख्या में बढ जाता है और साथ ही उसमें कुछ और ऊपरी विशेषताएँ आजाती हैं, तब वह ग्राम, ग्राम न रहकर 'नगर' बन जाता है। ग्रामों को लक्ष्य करके

पर आ पड़ता है तब उससे दूर-दूर भागते हैं। यह हमारी अकर्मण्यता की सूचना है। सम्यग्दृष्टि बनने के योग्य व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए सच्चे कमठ बनने की आवश्यकता है।

जहाँ ग्रामधर्म जागृत होता है वहाँ जीवनधर्म की भूमिका तैयार होती है। बीज बोने से पहले खेत जोतना आवश्यक होता है उसी प्रकार धर्म-बीज बोने के लिए मनुष्य को ग्रामधर्म की भूमिका तैयार करनी चाहिये क्योंकि ग्रामधर्म की भूमिका में से सभ्यता नागरिकता और राष्ट्रीयता आदि धर्म के अंकुर फूटते हैं।

जैसे खेती का मूल खेत को जोतना है उसी प्रकार धर्म का मूल ग्रामधर्म है। जब तक धर्मवृक्ष के ग्रामधर्म रूप मूल को नीति के जल से सींचा न जायगा तब तक सूत्रधर्म और चारित्रधर्म रूप मधुर फल की आशा नहीं की जा सकती। मधुर फल पाने के लिये माली को अथक पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसी प्रकार धर्म-वृक्ष में से सूत्रचारित्र-धर्म रूप मधुर फल पाने के लिए मानव समाज को अथक पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होती है।

धर्म-वृक्ष के ग्रामधर्म रूप मूल को नीति-जल से सिंचित करके सुदृढ़ बना लेने के पश्चात् सूत्र-चारित्र रूप मधुर फल अवश्य प्राप्त किये जा सकते हैं

कोई भी सत्पुरुष ऐसे दूषित ग्राम में स्थिर वास नहीं कर सकेगा और जब तक प्रत्येक गाव में कम से कम एक सन्मार्ग-प्रदर्शक- ग्रामनायक न होगा तब तक ग्रामवासियों में सद्धर्म के प्रति अभिरुचि उत्पन्न न हो सकेगी।

जहाँ सद्धर्मके प्रति अभिरुचि नहीं वहाँ सभ्यता या संस्कृति की रक्षा भी नहीं होती। सभ्यता की रक्षा के लिए ग्रामधर्म की आवश्यकता होती है। क्योंकि सभ्यता का उद्भवस्थान ग्रामधर्म है। अतएव जहाँ ग्रामधर्म की रक्षा नहीं की जाती वहाँ सभ्यता या संस्कृति की सुरक्षा भी नहीं हो सकती। अनार्य देशोंमें ग्रामधर्म के अभाव के कारण सभ्यता भी नहीं होती और इसी कारण असभ्य अनार्य देश में साधु-सतों के विहार का भगवान् ने निषेध किया है।

प्रत्येक ग्राम में सन्मार्गदर्शक अथवा मुखिया की खास आवश्यकता होती है। मुखिया पुरुष ही ग्राम-निवासियों को धर्म-अधर्म का, सत्य-असत्य का, सुख-दुख का सच्चा ज्ञान कराता और वही उन्हें सद्धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर चलाता है।

केशी श्रमण जसे चार ज्ञान के स्वामी ने चित्त प्रधान जैसे सन्मार्गदर्शक की प्रेरणा से प्रदेशी राजा को सद्धर्म का उपदेश देकर धर्म का अनुरागी बनाया था।

आज हमारी दशा बिलकुल विपरीत है। हम लोग साधु पुरुषों को सद्धर्म का उपदेश देने की प्रेरणा करने के बदले उनकी प्रशसात्मक स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। और जब चित्त प्रधान के समान सन्मार्गदर्शक बनने का काम सिर

ग्रामधर्म का विधान किया गया है। नगरों के लिये एक जुदे 'नगरधर्म' की योजना की गई है।

जिस धर्म का पालन करने से ग्राम्य जीवन की रक्षा होती है, उसका विकास होता है, वह साधारणतया ग्रामधर्म कहलाता है।

ग्राम में अगर चोरी होती हो तो उसे रोकना, वेश्यागमन आदि दुराचार न होने देना, विधर्मी पुरुषों के अनाचार को रोकना, पशुहिंसा न होने देना, मुकदमाबाजी से होने वाली संपत्ति की हानि एवं पारस्परिक वैमनस्य का निवारण करना, गांव के मुखिया की आज्ञा शिरोधार्य करना, यह गांव का मुख्य धर्म है।

ग्रामधर्म मोक्ष की प्राप्ति के लिये पर्याप्त नहीं है, फिर भी वह जिस धर्म से मोक्षप्राप्ति होती है, उस धर्म का आधार अवश्य है। अगर ग्रामधर्म व्यवस्थित न हो और इस कारण गांवमें चोरी, दुराचार, वेश्यागमन, पशुहिंसा, अत्याचार, अनाचार आदि का दौरदौरा हो जाय तो ऐसे गांव में आकर आत्मशोधक क्या आत्म-साधना कर सकेगा? कदाचित् कोई आत्मशोधक भूल-चूक से ऐसे गांव में आ पहुंचा हो और वहां चोर के अथवा ऐसे ही किसी अनाचारी पुरुष के घर का अन्न खा ले तो अन्नमयप्राण के नियमानुसार उस दूषित अन्न का प्रभाव उसके मस्तिष्क पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

इसके अतिरिक्त जिस ग्राममें ग्रामधर्म का पालन नहीं होता उसमें कोई सज्जन या साधु पुरुष निवास करके अपनी सज्जनता या साधुता की पूरी तरह रक्षा नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में

कोई भी सत्यपुरुष ऐसे दूषित ग्राम मे स्थिर वास नहीं कर सकेगा और जब तक प्रत्येक गांव में कम से कम एक सन्मार्ग-प्रदर्शक- ग्रामनायक न होगा तब तक ग्रामवासियों में सद्धर्म के प्रति अभिरुचि उत्पन्न न हो सकेगी।

जहाँ सद्धर्मके प्रति अभिरुचि नहीं वहाँ सभ्यता या सस्कृति की रक्षा भी नहीं होती। सभ्यता की रक्षा के लिए ग्रामधर्म की आवश्यकता होती है। क्योंकि सभ्यता का उद्भवस्थान ग्रामधर्म है। अतएव जहाँ ग्रामधर्म की रक्षा नहीं की जाती वहाँ सभ्यता या संस्कृति की सुरक्षा भी नहीं हो सकती। अनार्य देशोंमें ग्रामधर्म के अभाव के कारण सभ्यता भी नहीं होती और इसी कारण असभ्य अनार्य देश में साधु-सतों के विहार का भगवान् ने निषेध किया है।

प्रत्येक ग्राम में सन्मार्गदर्शक अथवा मुखिया की खास आवश्यकता होती है। मुखिया पुरुष ही ग्राम-निवासियों को धर्म-अधर्म का, सत्य-असत्य का, सुख-दुख का सच्चा ज्ञान कराता और वही उन्हें सद्धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर चलाता है।

केशी श्रमण जैसे चार ज्ञान के स्वामी ने चित्त प्रधान जैसे सन्मार्गदर्शक की प्रेरणा से प्रदेशी राजा को सद्धर्म का उपदेश देकर धर्म का अनुरागी बनाया था।

आज हमारी दशा बिलकुल विपरीत है। हम लोग साधु पुरुषों को सद्धर्म का उपदेश देने की प्रेरणा करने के बदले उनकी प्रशंसात्मक स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। और जब चित्त प्रधान के समान सन्मार्गदर्शक बनने का काम सिर

पर आ पड़ता है तब उससे दूर-दूर भागते हैं। यह हमारी अकर्मण्यता की सूचना है। सम्मार्गदर्शक बनने के योग्य व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए सच्चे कमठ करने की आवश्यकता है।

जहाँ ग्रामधर्म जागृत होता है वहाँ जीवनधर्म की भूमिका तैयार होती है। बीज बोने से पहले खेत जोतना जस आवश्यक होता है उसी प्रकार धर्म-बीज बोने के लिए मनुष्य को ग्रामधर्म की भूमिका तैयार करनी चाहिये क्योंकि ग्रामधर्म की भूमिका में से सभ्यता नागरिकता और राष्ट्रीयता आदि धर्म के अंकुर फूटते हैं।

जैसे खेती का मूल खेत को जोतना है उसी प्रकार धर्म का मूल ग्रामधर्म है। जब तक धर्मवृक्ष के ग्रामधर्म रूप मूल को नीति के जल से सींचा न जायगा तब तक सूत्रधर्म और चारित्रधर्म रूप मधुर फल की आशा नहीं की जा सकती। मधुर फल पाने के लिये माली को प्रबल पुरुषार्थ करना पड़ता है, उसी प्रकार धर्म-वृक्ष में से सूत्रचारित्र-धर्म रूप मधुर फल पाने के लिए मानव समाज को प्रबल पुरुषार्थ करने की आवश्यकता होती है।

धर्म-वृक्ष के ग्रामधर्म रूप मूल को नीति-जल से सिंचित करके सुदृढ़ बना लेने के पश्चात् सूत्र-चारित्र रूप मधुर फल अवश्य प्राप्त किये जा सकते हैं

नगरधर्म

[नगरधर्म]

—— ० ——

नगरधर्म का यथोचित रूप से पालन करने के साथ ही साथ अपने आश्रित ग्रामधर्म की भी रक्षा करना नागरिकों का परम कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्यपालन में ही नागरिकों की नागरिकता की प्रतिष्ठा है।

जब ग्राम का विस्तार बढ़ जाता है तब वह नगर के रूप में परिणत हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि ग्राम, नगर का एक भाग है। अतएव ग्राम का धर्म भी नगरधर्म गिना जाता है।

ग्राम और नगर में अत्यन्त घनिष्ठ सम्बंध है। नगर का प्रधान आधार ग्राम है। ग्राम के बिना नगर का जीवन नहीं टिक सकता। साथ ही नगर के बिना ग्राम की रक्षा नहीं हो सकती। अगर ग्राम अपने धर्म—ग्रामधर्म को भूल जाय और नगर अपने नगर धर्म का विस्मरण कर दे तो दोनों का ही पतन अवश्यंभावी है।

शरीर और मस्तिष्क में जितना घना संबंध है, उतना ही संबंध ग्रामधर्म और नगरधर्म में आपस में है। ग्राम जन अगर शरीर के स्थान पर हैं तो नागरिक जन मस्तिष्क की जगह। जब शरीर स्वस्थ होता है तभी मस्तिष्क स्वस्थ रह सकता है यह बात कौन नहीं जानता? यद्यपि मस्तिष्क शरीर के मस्तक में छोटा है फिर भी समस्त शारीरिक कार्यों का संचालन मस्तिष्क से ही होता है। दुरुपयोग से जब मस्तिष्क विक्षिप्त हो जाता है तो वह अपने साथ सम्पूर्ण शरीर को हानि पहुँचाता है।

वर्तमान काल में नागरिकों की व्यवस्था-अवस्था विकृत हो रही है। उन्हें अपनी रक्षा का भी भान नहीं है। उनका धार्मिक जीवन प्रायः नष्ट भ्रष्ट हो रहा है। ग्रामधर्म को अपना आधार न मान कर ग्रामों की ओर अक्षम्य उपेक्षा का भाव धारण करके आज के नागरिक अपने समय का, शक्ति का और संपत्ति का, नाटक, सिनेमा, नाचरंग, फैशन आदि में दुरुपयोग कर रहे हैं। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं उन्हें अपने धर्म का-कर्तव्य का भान ही नहीं रह गया है।

आज के नागरिकों की स्थिति ऐसी खराब है। इस स्थिति में उनसे ग्राम्य जनों की रक्षा की क्या आशा की जा सकती है? मस्तिष्क अस्थिर हो जाने से जैसे शरीर को अपार हानि पहुँचती है, उसी प्रकार नागरिकों द्वारा अपना नगरधर्म भुला देने के कारण ग्राम्यजन अपना ग्रामधर्म भूलते जाते हैं।

नगरधर्म का यथोचित रूप से पालन करने के साथ ही साथ अपने आश्रित ग्रामजन की भी रक्षा करना नागरिकों का परम धर्म है। इस धर्म व्यवस्था में ही नागरिकों की नागरिकता की प्रतिष्ठा है।

वर्त्तमान स्थिति में नागरिकों का धर्म क्या है? इस प्रश्न का समाधान अपने ही दृष्टांत से करता हूँ।

आप लोगों ने मुझे आचार्य पद पर स्थापित किया है। अब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं आप लोगों को धर्मोपदेश देकर आचार में स्थिर करूं। अगर मैं निष्क्रिय हो एक ओर बैठ जाऊं और आचार धर्म का उपदेश न करूं तो आप मुझे क्या कहेंगे?

आप कहेंगे—आचार्य महाराज, आप आचारधर्म का उपदेश न देकर बैठे रहेंगे तो आचारधर्म का पालन किस प्रकार होगा? आपको आचारधर्म का उपदेश तो देना ही चाहिये?

आपका यह कथन न्याययुक्त होगा। आप सबने मुझे धर्म का आचार्य नियत किया है। अतएव आचारधर्म का उपदेश देकर मुझे अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिये। इसी कर्त्तव्यपालन में आचार्य पद का महत्व समाया हुआ है।

इस प्रकार श्रावक के धर्म की रक्षा करना जैसे आचार्य का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार आपने आश्रित ग्राम्यजनों की रक्षा करना नागरिकों का कर्त्तव्य है।

आचार्य अगर लापरवाह एव निठल्ला बना बैठा रहेगा तो श्रावकों और साधुओं के धर्म की रक्षा एवं वृद्धि न होगी। इसी प्रकार अगर नागरिक लापरवाह और निकम्मे बन जाते हैं तो ग्राम्यजनो के कल्याण की बहुत ही कम सभावना हो सकती है।

आज राजनीतिक नेताओं मे नागरिकों की ही सख्या अधिक है। कहना चाहिये, आधुनिक राजनीति नगर के हाथों में है। मगर

नागरधर्म की भूल जाने के कारण जो नागरिक धारासभाओं में या इसी प्रकार की किसी अन्य राजनीतिक सभा में चुने जाते हैं वे अपने कर्त्तव्य का यथाविधि पालन करते हों यह बहुत कम देखा जाता है। जो सभ्य प्रजा के मत से चुने जाते हैं वे चुनाव से पहले तो बड़ी उदार और लम्बी प्रतिज्ञाएँ करते हैं पर चुने जाने के बाद उनमें से अधिकांश कीर्ति लोभ एवं स्वार्थ से प्रेरित होकर प्रजाहित का घात करने वाले अनेक कानूनों का निःसंकोच समर्थन करते देखे जाते हैं। ऐसे लोग प्रजा के हित का संरक्षण करने के बदले प्रजाहित का भक्षण करने में अपनी सम्मति देकर प्रजाहित के विरोधी कानून बनाने में सरकार का साथ देते हैं।

प्रजाहित के प्रतिकूल कानून बनाते समय, जहाँ तक सम्भव हो शीघ्र से शीघ्र विरोध करना प्रजापक्ष के सदस्यों का नागरधर्म है। मगर आज इस नागरधर्म की ओर बहुत थोड़े लोगों का ध्यान है। यही कारण है कि नागरिक लोग अपने ही हाथ से प्रजाहित का घात विघात कर रहे हैं।

कुछ नागरिकों में एक भ्रान्त धारणा घुसी हुई है। वे समझते हैं—'सरकार-राजा द्वारा बनाये हुए कानूनों का विरोध करना राजा-सरकार का विरोध करना है और शास्त्र की यही आज्ञा है कि राजा के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये।

जो लोग ऐसा तर्क उपस्थित करते हैं वे शास्त्र के वास्तविक रहस्य को नहीं समझते। शास्त्रकारों ने—

विरुद्धरज्जाइक्कमे

को दोष बतलाया है। इसका तात्पर्य है—राज्य से विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये। अर्थात् राज्य द्वारा की हुई सुव्यवस्था का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। इस सूत्र के विषय में सामान्य जनता में जो भ्रम फैला हुआ है वह 'राज्य' और 'राजा' शब्द के अर्थ में अन्तर न समझने के कारण है।

सामान्य समझ के लोग राज्य और राजा को एक ही समझ बैठते हैं। यह उनकी बड़ी भूल है। राज्य का अर्थ है-देश की सुव्यवस्था। राज्य अर्थात् देश की सुव्यवस्था का विरोध न करना, यह शास्त्र का आदेश है। मगर यदि राजा अनीति से, अनाचार से या स्वार्थ से राज्यव्यवस्था को दूषित करता हो तो उसके विरुद्ध आंदोलन करना जैन शास्त्रों से विरुद्ध नहीं है। जैन-शास्त्र ऐसे पवित्र आंदोलन का निषेध नहीं करते।

आज शराब, गांजा, भंग अफीम आदि मादक पदार्थों पर सरकार अपना एकाधिपत्य रखती है। कल्पना कीजिए, प्रजा ने मादक द्रव्यों से होने वाली हानियां समझ ली और उनका त्याग किया। प्रजा के इस त्याग से सरकार की आमदनी को धक्का पहुँचा। सरकार ने अपनी आमदनी बढ़ाने के लिये एक नियम जारी किया कि प्रतिदिन प्रत्येक पुरुष को शराब का एक प्याला पीना अनिवार्य होगा। ऐसी स्थिति में प्रजा का कर्त्तव्य क्या होगा? सरकार का विरोध करना उचित नहीं है, ऐसा मानकर प्रजा क्या चुपचाप बैठी रहेगी? क्या वह सरकार के इस अनीतिमय नियम को शिरोधार्य कर लेगी? कदापि नहीं। अगर प्रजा में नैतिकता की भावना विद्यमान है, अगर प्रजा में जीवन है, बल है, तो वह

अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर सरकार का विरोध करेगी और उसका यह विरोध धर्म एवं नीति से संगत समझा जायगा।

राजा अथवा सरकार की ऐसी अनुचित आज्ञा का विरोध करना प्रजा का तथा नागरिकों का विशेष कर्त्तव्य है। इतना ही नहीं; एक अनुचित कानून को हटाने के लिए आवश्यकता पड़ने पर दूसरे कानूनों का विरोध करना भी प्रजा का कर्त्तव्य होजाता है। क्योंकि प्रजाहित के विघातक कानून को स्वीकार कर लेने से प्रजा की भौतिक हानि ही नहीं होती वरन् प्रजा में नैतिक पतन का भी प्रवेश हो जाता है।

'विरुद्धरज्जाइक्कमे' अर्थात् 'राज्य विरुद्ध काम नहीं करना चाहिये' जैन शास्त्र के इस आदेश का वास्तविक अर्थ समझा गया होता तो आज जो लोग जैनधर्म को कायरों का धर्म कहते हैं उनके मुंह पर सील लग गई होती। उन्हें ऐसा कहने का साहस ही न हुआ होता।

जैनधर्म का मुख्य सिद्धांत अहिंसावाद है। जैन अहिंसावादी होता है। अहिंसावादी कायर नहीं वीर होता है। सच्चा अहिंसावादी एक ही पुरुष अहिंसा की असीम शक्ति प्राप्त कर रक्त का एक भी बूंद गिराये बिना बड़ी से बड़ी पाशविक शक्तियों को परास्त करने की क्षमता रखता है। अहिंसा में ऐसा असर और प्रभाव भरा है।

इस अणुअस्त्रधारी युग में अज्ञान ग्राम्यजन नागरिकों की भांति नाटक, सिनेमा, नाच रंग फैशन आदि में समय शक्ति और संपत्ति का अपव्यय करना सीख रहे हैं। नतीजा यह है कि गामों में भी विलासिता ने गरीबी को आमन्त्रित किया है और

गौवों के कारण जीवनदायक घी, दूध आदि पदार्थ मिलना कठिन हो रहा है। यह अन्धानुकरणजन्य विलासिता का दुष्परिणाम है।

व्यक्ति, समष्टि का एक अंग है। समष्टि अगर एक मशीन है तो व्यक्ति उसका एक पुर्जा है। समष्टि के हित में ही व्यक्ति का हित निहित है। अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह समष्टि के हित को सामने रख कर सत्प्रवृत्ति करे। इस प्रकार सत्प्रवृत्ति करने में ही मानवजाति का मंगल है।

जो मनुष्य अपने अथवा अपने माने हुए कुटुम्ब के हित-साधन में ही तत्पर रहता है और प्राणीमात्र के हित का विचार तक नहीं करता वह नीतिज्ञ नहीं, नीतिघ्न है।

मानव स्वभाव सदा अनुकरणशील है। जैसे बालक अपने माता पिता आदि का अनुकरण करता है, इसी प्रकार अशिक्षित या अर्धशिक्षित ग्राम्यजन, शिक्षित नागरिकों का अनुकरण करते हैं। माता पिता का भला या बुरा प्रभाव बालक पर पड़े बिना नहीं रहता है, इसी प्रकार नागरिकों की अच्छाइयों और बुराइयों का असर ग्राम्यजनों पर बिना पड़े नहीं रहता।

नगर निवासी जन यदि ग्राम्यजनों के हित को सामने रखते हुए नगरधर्म का यथावत पालन करेंगे तो राष्ट्र का अधिक हित होने की संभावना की जा सकती है।

ने अपने नगरधर्म का पालन नहीं किया और इसी कारण राष्ट्र-धर्म का लोप हो गया।

जयचन्द्र के जमाने से लेकर, मीरजाफर तथा उसके बाद, आज तक हम ऐसी ही दुरवस्था देखते आते हैं।

बंगाल में 'ईस्ट इंडिया कंपनी' के कार्यकर्त्ता अपनी कुटिलता से देश को दुख दे रहे थे और नमक जैसी सर्व-साधारणोपयोगी वस्तु के ठेकेदार बन कर ऐसा अत्याचार कर रहे थे कि जिस किसी के घर में पाच सेर नमक निकल आता उसकी समस्त संपत्ति जब्त कर ली जाती थी। यही नहीं, वे अपना व्यापार बढाने के लिये तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए प्रसिद्ध एवं कुशल बुनकरों में से अनेक के अंगूठा तक काट लेते थे। *

जरा उस जमाने की ओर ध्यान दीजिये। उस समय अत्याचारों का प्रतीकार करना असंभव सा होगया था। इसका प्रधान कारण यही था कि जगतसेठ अमीचाद तथा महाराज नन्दकुमार सरीखे प्रसिद्ध नागरिक अपने स्वार्थ के खातिर देशद्रोह कर रहे थे।

भारत की बात जाने दीजिये। किसी दूसरे राष्ट्र के पतन के कारणों की खोज कीजिये। आपको मालूम होगा कि उस राष्ट्र के नागरिकों ने अपना नगरधर्म यथोचित रूप से पालन नहीं किया और इसी कारण उस राष्ट्र का अधःपतन हो गया।

आज मुट्ठीभर विदेशी चालीस करोड भारतवासियों पर शासन कर रहे हैं। इसका प्रधान कारण यही है कि भारत के नागरिक नगरधर्म का पालन नहीं करते।

---

* देखो 'प्लासी का युद्ध' बंगाल बेहाल, नामक पुस्तकें

याद रखना चाहिये, जो नागरिक नगरधर्म का ठीक तरह पालन नहीं करता वह अपने राष्ट्र का अपमान करता है, और दूसरे शब्दों में कहा जाय तो देशद्रोह करता है।

जब तक ग्रामजन ग्रामधर्म और नागरिक जन नगरधर्म के पालन करने का दृढ निश्चय न कर लेंगे तब तक राष्ट्र का उत्थान होना असंभव प्रतीत होता है।

राष्ट्र शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्रकारों ने बतलाया है—जो प्राकृतिक मर्यादा से मर्यादित हो एक ही जाति तथा एक ही सभ्यता के लोग जहाँ रहते हों उस देश को राष्ट्र कहते हैं।

ग्रामों और नगरों का समूह भी राष्ट्र कहलाता है।

जिस धर्म से राष्ट्र सुव्यवस्थित होता है, राष्ट्र की उन्नति-प्रगति होती है, मानवसमाज अपने धर्म का ठीक-ठीक पालन करना सीखता है, राष्ट्र की संपत्ति का संरक्षण होता है, सुख-शांति का प्रसार होता है, प्रजा सुखी बनती है, राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढ़ती है और कोई अत्याचारी परराष्ट्र, स्वराष्ट्र के किसी भाग पर अत्याचार नहीं कर सकता, वह धर्म राष्ट्रधर्म कहलाता है।

राष्ट्र के प्रत्येक निवासी पर राष्ट्रधर्म के पालन करने का उत्तरदायित्व है, क्योंकि एक ही व्यक्ति के भले या बुरे काम से राष्ट्र विख्यात या कुख्यात (बदनाम) हो सकता है। इसे स्पष्ट करने के लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

एक भारतीय सज्जन (!) यूरोप की किसी बड़ी लायब्रेरी में ग्रन्थ अवलोकन करने गये। वहाँ एक सचित्र ग्रंथ पढ़ते पढ़ते एक सुन्दर चित्र उन्हें नजर आया। वह चित्र उन्हें बहुत पसन्द आया।

उन्होंने चोरी से उसे फाड लिया। संयोगवश लाइब्रेरियन को पता चल गया। उसने जांच पड़ताल की। उस भारतीय को पकडा और दंड दिलवाया। इस भारतीय के दुष्कृत्य का नतीजा सारे देश को भोगना पडा। उस लाइब्रेरी में यह नियम बना दिया गया कि इस लाइब्रेरी में कोई भी भारतीय बिना आज्ञा लिए प्रवेश न करे।

सैकड़ों भारतीय विद्यार्थी उस ग्रंथालय में जाकर लाभ उठाते थे। एक व्यक्ति की करतूत से वह लाभ मिलना बंद होगया। विद्यार्थियों के ज्ञानाभ्यास में बाधा पड़ी। यही नहीं समाचार-पत्रों में इस घटना की खूब चर्चा की गई और भारतीयों को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया गया। तात्पर्य यह है कि राष्ट्रधर्म का पालन न करने से समूचे राष्ट्र को अप्रतिष्ठा और हानि का शिकार होना पड़ता है।

इससे विरुद्ध विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डा० जगदीशचन्द्र बोस, स्वामी विवेकानन्दजी, महात्मा गांधीजी जैसे राष्ट्रहितैषियों ने यूरोप आदि की यात्रा करके राष्ट्रधर्म का पालन करके, अपनी राष्ट्रीयता का-उन्नत राष्ट्रीय भावना का, परिचय देकर, भारतमाता की गुणगाथा गाकर उसकी महत्ता प्रकाशित करके स्वदेश का मस्तक ऊँचा उठाया है। इसीलिए कहा गया है कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति पर राष्ट्र का आधार है।

कुछ लोग कहते हैं, आत्मकल्याण में तत्पर रहने वालों को ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म आदि की क्या आवश्यकता है? मगर वास्तव में यह कथन सही नहीं है। आत्मशोधकों को भी ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म के साथ थोडा बहुत संबन्ध रखना ही पडता है, क्योंकि साधुओं को ग्राम मे, नगर में और

राष्ट्र में रहना होता है, विचरना होता है, और वहीं से आहार पानी ग्रहण करना होता है। ग्रामनिवासी अगर अधर्मी, चोर या अत्याचारी होंगे तो उनका अन्न खाने वाला साधु धर्मात्मा, स्वतंत्र विचार करने वाला महात्मा और आत्मगवेषक कैसे बन सकेगा ? कहावत प्रचलित है—'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन।' मानसशास्त्र बतलाता है कि जैसे विचार रखने वाले का आहार खाया जायेगा प्रायः वैसा ही विचार खाने वाले का हो जायगा।

जहाँ तक गृहस्थ श्रावकों का धर्म पवित्र मालिन्य नहीं बनता वहाँ तक साधुओं का जीवन पवित्र रहना कठिन है। अगर गृहस्थ-उपासक अपने धर्म का पालन करने में दृढ़ रहें तो साधुओं को भी संयमपालन में दृढ़ रहना ही पड़ेगा। यह एक ध्रुव सत्य है।

श्री दशवैकालिक सूत्र की पहले अध्ययन की पहली गाथा की टीका में नीतिमान् पुरुषों का न्यायोपार्जित अन्न ही साधुओं को ग्राह्य बतलाया है।

जब तक राष्ट्र का प्रत्येक सभ्य राष्ट्रधर्म का भलीभाँति पालन नहीं करता तब तक सूत्र चारित्र धर्म सदैव खतरे में रहते हैं। क्योंकि राष्ट्रधर्म आधार है और सूत्रचारित्र धर्म आधेय हैं। आधार के अभाव में आधेय किसके सहारे टिक सकता है ? जैसे पात्र के अभाव में घी नहीं टिक सकता, इसी प्रकार राष्ट्र-धर्म के बिना सूत्र-चारित्र धर्म नहीं टिक सकता।

यह बात नीचे लिखे उदाहरण से विशेष स्पष्ट हो जायगी:—

मनुष्यों से भरा हुआ एक जहाज नदी के बीचोंबीच जा रहा है। मार्ग में एक मूढ़ मनुष्य, किसी मनुष्य को उठाकर नदी

मे फेंकने को तैयार होता है और दूसरा मूढ तेज धार वाले शस्त्र से जहाज में छेद करने का प्रयत्न कर रहा है। इस स्थिति मे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन दोनों मे से पहले किसे रोका जाय ? अगर बुद्धिमान पुरुषो से इस प्रश्न का उत्तर मागा जाय तो वह यह होगा कि जहाज में छेद करने वाले को पहले रोकना उचित है।

इस उत्तर से सामान्य मनुष्य को यह शका हो सकती है कि जहाज मे छेद करने वाले को पहले रोका जाय और जीवित मनुष्य को नदी में फकने वाले को वाद में रोका जाय, यह क्यों ? क्या जहाज का मूल्य मानव जीवन से भी अधिक है ?

ऐसी आशका करने वालेको समझना चाहिये कि अगर जहाज में कोई मुसाफिर न होता, जहाज नदीके किनारे पडा होता और उस समय उसमें छेद किया जाता तो विशेष हानि नहीं थी। पर जब जहाज नदीके बीचों बीच जा रहा है, उस समय उसमें छेद हो जाय तो तमाम यात्री नदी में डूब मरेगे। अतएव ऐसी स्थिति में जहाज के मूल्य का अर्थ होता है बहुसख्यक मनुष्यों के जीवन का मूल्य।

अगर प्रत्येक व्यक्ति जहाज में छेद होते देखकर आत्मरक्षा के ही प्रयत्न में लग जाय और दूसरों की चिन्ता न करे तो उसका परिणाम अच्छा नहीं निकलेगा।

जो लोग राष्ट्र की रक्षा करने के बदले केवल व्यक्ति की ही रक्षा करना चाहते हैं, उन्हें भी उपर्युक्त उदाहरण ध्यान में रखना चाहिए।

आत्मधर्म की बातें करने वाले लोग ससार से सबन्ध रखने वाले बहुत से काम करते है, परन्तु जब आचारधर्म के

पालन का प्रश्न उपस्थित होता है तब वे कहने लगते हैं—हमें दुनियादारी की बातों से क्या मतलब ? ऐसे लोग आत्मधर्म की ओट में राष्ट्र के उपकार से विमुख रहते हैं।

भगवान् महावीर सरीखे महापुरुष ने केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी, केवल मनुष्य-जगत् के हित के उद्देश्य से धर्म का उपदेश दिया था और देश-देशान्तर में भ्रमण करके मोक्ष का राजमार्ग बतलाया था। जब जीवन्मुक्त केवलज्ञानी ऐसा व्यवहार करते हैं तब संसार में रहने वाले जो लोग कहते हैं कि हमें ग्राम नगर या राष्ट्र से क्या मतलब है ? उन पामर पुरुषों की यह कितनी बड़ी कृतघ्नता है ?

पतित का उद्धार करना डूबते को उबारना यह धर्म है। इस सामान्य वस्तु को समझते हुए भी कुछ लोग ऐसे हैं जो राष्ट्ररक्षा के कामों से कोसों दूर रहते हैं। राष्ट्र के प्रति इस प्रकार की उदासीनता होने का कारण राष्ट्रधर्म की महत्ता का अज्ञान है। जिन्होंने राष्ट्रधर्म का महत्त्व नहीं समझा वही लोग राष्ट्रहित के प्रति उदासीन रहते हैं।

जिसके हृदय में आत्मसम्मान का भाव होगा वह अपना अथवा अपनी माता का अपमान सहन नहीं कर सकता। वह अपना या अपनी माता का अपमान देखकर क्षुब्ध हो उठता है।

हम लोगों को जन्म देने वाली, पाल-पोस कर बड़ा करने वाली माता तो माता है ही मगर अपने पेट में से पानी निकाल कर पिलाने वाली अपने उदर में से अन्न निकाल कर देने वाली स्वयं वस्त्रहीन रहकर हमें वस्त्र देने वाली और माता की भी माता हमारी मातृभूमि है। माता और मातृभूमि का जितना उपकार माना जाय उतना ही कम है।

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक महिमामयी हैं। यह कथन सोलह आने सत्य है। यह भारतवर्ष अपना देश है। अपनी मातृभूमि है। हम सब इसकी संतान हैं। माता की आबरू रखना, माता की प्रतिष्ठा की रक्षा करना संतान का कर्त्तव्य है।

जिन कानूनों के कारण, जिन विदेशी वस्तुओं के व्यवहार की बदौलत, मातृभूमि की इज्जत मिट्टी में मिलती हो, राष्ट्रधर्म को धक्का लगता हो और स्वाधीनता बिक जाती हो, उन कानूनों को, विदेशी वस्तुओं के व्यवहार को बंद कर देने के बदले, विलास की सामग्री बढाकर राष्ट्रीय संपत्ति और शारीरिक संपत्ति को स्वाहा करना और इस प्रकार राष्ट्र के बन्धनों को ढीला करने के बदले और अधिक मजबूत बनाना मनुष्यत्व से विरुद्ध है। मातृभूमि के प्रति पुत्र की जैसी भावना होनी चाहिए वैसी भावना इस व्यवहार में नहीं है।

माता की मुक्ति के लिए पुत्र को स्वदेशाभिमान, स्वार्पण और सेवा के सूत्र स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करने चाहिए।

निम्नलिखित सुवर्णाक्षर अपने हृदयपट पर अंकित कर लो—
'राष्ट्र की रक्षा में हमारी रक्षा है। राष्ट्र के विनाश में हमारा विनाश है।'

शास्त्रों का अवलोकन करने से एक बात स्पष्ट ध्यान में आ जाती है। वह यह है कि राष्ट्रधर्म के बिना सूत्रचारित्रधर्म नहीं टिक सकता। इस बात की पुष्टि के लिए शास्त्रों के अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं।

श्री ऋषभदेव भगवान ने अवतरित होकर ग्रामधर्म नगरधर्म और राष्ट्रधर्म की स्थापना की थी। उन्होंने अपने जीवन के बीस भाग कुमार अवस्था में व्यतीत किये थे और त्रेसठ भाग राष्ट्रधर्म के संशोधन और प्रचार में लगाये थे। उन्होंने अपने जीवन का एक भाग सूत्र चारित्रधर्म के प्रचार में लगाया था।

इसके अतिरिक्त 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' नामक सूत्र में उल्लेख है—पहले सूत्र-चारित्रधर्म का नाश होगा फिर राष्ट्रधर्म का नाश होगा। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि जब तक सूत्र चारित्रधर्म है तब तक राष्ट्रधर्म का अस्तित्व अनिवार्य है। इसी कारण सूत्र-चारित्रधर्म का प्रचार करने के लिए सर्वप्रथम श्री ऋषभदेव ने राष्ट्रधर्म का प्रचार किया था।

उल्लिखित प्रमाणों के अनुसार सूत्रचारित्रधर्म का नाश होने के पश्चात् भी राष्ट्रधर्म का अस्तित्व बना रहेगा। अर्थात् सूत्र-चारित्रधर्म की उत्पत्ति से पहले और उसके विनाश के बाद भी राष्ट्रधर्म प्रचलित रहता है।

जो लोग कहते हैं—'राष्ट्रधर्म से हमें क्या लेना देना है?' उनसे पूछना चाहिए—तुम्हारा सूत्र-चारित्रधर्म के साथ संबंध है या नहीं? अगर संबन्ध है तो सूत्र-चारित्रधर्म बिना राष्ट्रधर्म के टिक नहीं सकता अतएव सूत्र-चारित्रधर्म का पालन करने के लिए राष्ट्रधर्म का भी पालन करना आवश्यक है। इस प्रकार किसी भी अवस्था में राष्ट्रधर्म का निषेध नहीं किया जा सकता।

स्थानांग सूत्र में कहा है:—

धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्सा ठाणा पण्णत्ता। तं जहा-
छक्काए, गणे, राया, गिहवई सरीरं ॥

—ठाणा ५, सूत्र ४४८

अर्थात्—सूत्र-चारित्रधर्म को अंगीकार करने वाले साधुओं को भी पांच वस्तुओं का आधार लेना पड़ता है। वे इस प्रकार हैं—(१) षट्काय (२) गच्छ (३) राजा (४) गृहपति (५) शरीर।

ऊपर अंकित किये गये शास्त्रोल्लेख से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन पांच वस्तुओं का आश्रय लिये बिना सूत्र-चारित्र-धर्म का टिकाव नहीं हो सकता।

ऊपर के सूत्र में प्रयुक्त 'राजा' शब्द राज्य या राष्ट्र अर्थ का वाचक है। अगर राष्ट्रीयव्यवस्था अर्थात राज्यप्रबंध अच्छा न हो तो चोरी, हिंसा, अत्याचार, अनाचार आदि कुकर्म फैल जाएंगे और तब सूत्र-चारित्रधर्म का समुचित रूप से पालन नहीं हो सकेगा।

इसका कारण स्पष्ट है। जो लोग अपनी रक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्र रखते हैं, उनकी भी रक्षा राज्य की सुव्यवस्था के बिना नहीं हो सकती। वे दुष्ट लोगों से भलीभांति अपनी रक्षा नहीं कर सकते। ऐसी हालत में मुनि जन, जो दूसरे को मारने के लिए लकड़ी का एक टुकड़ा भी नहीं रखते, राज्य की सुव्यवस्था के बिना दुष्टों की दुष्टता से बचकर शान्तिपूर्वक धर्म का पालन कैसे कर सकते हैं? इसी उद्देश्य से शास्त्रकारों ने राजा को धर्म का रक्षक और पालक माना है। राष्ट्रधर्म, सूत्र-चारित्रधर्म की रक्षा करता है,

इसी कारण शास्त्रकारों ने राष्ट्र धर्म का अभिधान आगम में स्वीकार की है।

जो लोग एक तरफ से धर्म का रक्षण करते हैं और दूसरी तरफ से धर्म का नाश होने देते हैं, क्या वे वास्तव में धर्म की रक्षा कर सकते हैं? नहीं! केवल सूत्रचारित्रधर्म को धर्म समझना और राष्ट्र धर्म को धर्म न मानना, मकान की नींव खोद कर उसे स्थिर बनाने के समान अथवा वृक्ष की जड़ उखाड़ कर उसे हरा भरा बनाने का प्रयत्न करने के समान है।

सूत्र-चारित्रधर्म मकान अथवा वृक्ष के समान है, जबकि राष्ट्र-धर्म नींव अथवा वृक्ष के मूल के समान है।

जो लोग ग्रामधर्म नगरधर्म और राष्ट्र धर्म का मूलोच्छेदन करते हैं, वे परोक्षरूप से सूत्र-चारित्रधर्म का भी विनाश कर रहे हैं। अतएव चारित्रधर्म के नाम पर जो लोग राष्ट्र धर्म आदि की अव हेलना करते हैं, उन्हें रत्नत्रयधर्म और समग्रधर्म का गहन चिन्तन मनन करना चाहिये। बिना सोचे-विचारे अथवा शास्त्रों का गहराई के साथ अध्ययन मनन किये बिना किसी की भली बुरी बात मान लेने से आगे चलकर पश्चात्ताप करने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार काल्पनिक, असमर्थ विचार धारण करने से आज नहीं तो भविष्य में राष्ट्र समाज और धर्म को भयंकर हानि पहुँचने की संभावना है। इसलिए मैं जोर देकर बार बार कहता हूँ कि-प्रत्येक बात पर बुद्धिपूर्वक विचार करो। दूसरे जो कुछ कहते हैं, उसे ध्यानपूर्वक सुनो और तात्त्विक दृष्टि से शास्त्रों का अवलोकन करो। केवल अन्धविश्वास

से प्रेरित होकर या संकुचित मनोवृत्ति से अपनी मन कल्पित बात को मत पकड रक्खो। दुराग्रह या स्वमताग्रह के फेर में मत पडो।

राष्ट्रधर्म की महत्ता समझने और समझाने वालों की संख्या कम हो जाने के कारण आज राष्ट्रधर्म का आचरण करना कठिन हो रहा है। और राष्ट्रधर्म का यथोचित परिमाण में आचरण न होने से लोग जैनधर्म को संकीर्ण और अव्यवहार्य धर्म कह कर उसकी भर्त्सना करते हैं।

राष्ट्रधर्म की व्याख्या करने से पहले भगवान ऋषभदेव का उदाहरण इसलिये दिया गया है कि आप लोग भगवान् ऋषभदेव द्वारा उप दृष्टि राष्ट्रधर्म को ठीक ठीक समझ जाएँ।

शास्त्र में कहा है —

'पयाहियट्ठयाए—प्रजाहितार्थाय।'

अर्थात् प्रजा के हित के लिए भगवान ऋषभदेव ने राष्ट्रधर्म आदि की स्थापना की थी। उन्हीं के द्वारा स्थापित की हुई राजनीति से आज हमारा व्यवहार चल रहा है। भगवान के द्वारा स्थापित की हुई नीतियां प्रजा का कितना अधिक हित-साधन करने वाली हैं, इस बात को समझने के लिए उनके द्वारा स्थापित नीतियों में से केवल एक विवाहनीति को समझ लेना ही पर्याप्त होगा।

आज अगर विवाहप्रथा न होती तो मानव-समाज की क्या स्थिति होती? युगलिया जीव शान्त स्वभाव वाले थे। वे अपनी काम वासना पर अंकुश रख सकते थे, मगर आज ऐसी हालत नहीं

है। विवाह बंधन होने पर भी आज अधिकांश लोग परस्त्री की ओर विकार-दृष्टि से देखते हैं। ऐसी दशा में अगर विवाह का बंधन न होता तो मानव समाज की स्थिति पशुओं से भी बदतर होती या नहीं? पशुओं में अब भी मर्यादा दिखाई देती है। मनुष्य समाज में वैवाहिक प्रथा विद्यमान होने पर भी काम वासना को तृप्त करने की मर्यादा नहीं है, तब अगर विवाह प्रथा न होता तो मानव-समाज किस स्थिति में होता यह कल्पना ही भयंकर मालूम होती है।

इस बात पर विशेष विचार करने से भगवान ऋषभदेव द्वारा स्थापित की हुई राजनीति का तथा उनके द्वारा प्ररूपित राष्ट्र धर्म का महत्त्व समझ में आ सकता है।

राष्ट्र धर्म का मुख्य सार यह है—

केवल राज्य स्वातन्त्र्य यही तो राष्ट्र का न है।
फिर यह दोनों सदृश, मुख्य हैं का न संग हैं॥
व्यक्ति कुटुम्ब समाज सब, मिले एक ही धार में।
मिले शांति-सुख राष्ट्र के पावन पारावार में॥

× × × ×

अंग राष्ट्र का बना हुआ प्रत्येक व्यक्ति हो।
कल्पित नियमित किये सभी का राज्य शक्ति हो॥
सदा हृदय में राष्ट्र प्रेम हो, देशभक्ति हो।
समता में अनुरक्ति, विषमता से विरक्ति हो॥

× × × ×

राष्ट्र पताका पर लिखा रहे—'न्याय-स्वाधीनता'।
पराधीनता से नहीं बढ़ कर कोई दीनता॥

—त्रिशूल।

४

व्रतधर्म

[पाखंड धर्म]

—— ० ——

अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अस्तेयव्रत, अभयव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत, स्वादेन्द्रियनिग्रहव्रत, अपरिग्रहव्रत, आदि-आदि जो व्रत तुमने धारण किये हों, उनमें दृढ रहना, उनसे महात्मा गाधी की तरह चिपटे रहना। यही सब प्रकार के विजय की चावी है। यही अपना धर्म है।

धर्म का पालन करने के लिए दृढ निश्चय अर्थात् व्रतधर्म की खास आवश्यकता है। इस बात को लक्ष्य में रख कर शास्त्रकारों ने ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म का समुचित पालन करने के लिए दृढ निश्चय—व्रतधर्म की आवश्यकता स्वीकार की है।

व्रतधर्म का अर्थ क्या है? जीवन में व्रतधर्म का क्या और कितना स्थान है? व्रतधर्म के पालन से धर्म का पालन किस प्रकार होता है? इन प्रश्नों पर यहा थोडा सा प्रकाश डाला जायगा।

शास्त्रकारों ने प्रथम को 'पाखण्डवर्ग' के नाम से बयान किया है। यहाँ 'पाखण्ड' शब्द जरा अटपटा-सा मालूम होता है पर यह समझ रखना चाहिए कि सामान्यतया 'दंभ' के अर्थ में प्रयुक्त होने वाला 'पाखण्ड' शब्द यह नहीं है। यहाँ 'पाखण्ड' शब्द 'व्रत' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है*। अतएव 'पाखण्ड' शब्द मात्र से घबराने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यहाँ प्रयोग किया गया पाखण्ड शब्द नियम बनाने वाला और व्रत-पालन में दृढ़ नियम उत्पन्न करने वाला है।

---

* डा० होनल 'पाखण्ड' शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं— परपाखण्डप्रशंसा परदर्शनिनां प्रशंसा गुणोत्कीर्तनम्, परपाखण्डप्रशंसा। परपाखण्डसंस्तवस्तस्य परिचयः।

Praising of heterodox teachers and intimacy with heterodox teachers. In yog II, 17 mithya drsti-prashansanam. The word 'पाखण्ड' has, with the jains, no bad sense. It means generally the adherent of any religion especially of their own house: with the Brahmans, it came to mean an adherent of a false or heterodox religion, with them पाखंड is equal to the jains परपाखंड See also Bhag P P 2/3/2/4/ and Ind. St. val. XVII P 75

पाखण्ड शब्द प्राचीन बौद्ध साहित्य में और वेदागमों में मिलता है और उसका मूल अर्थ है—किसी प्रकार का व्रत। अपने व्रत में स्थिर होकर रहने से ही मनुष्य को मानसिक स्थिरता मिल सकती है और श्रद्धा में शिथिलता नहीं आती। जान पड़ता है इसी कारण से पर पाखण्ड की प्रशंसा का निषेध किया गया है।

साधारण मनुष्य से अगर 'पाखण्डधर्म' का अर्थ पूछा जाय तो वह एकाएक विचार में पड जायगा। वह सोचेगा—'पाखण्ड' धर्म कैसे हो सकता है ? और धर्म पाखण्ड कैसे हो सकता है ?

पाखण्ड शब्द का प्रयोग अशोक के शिलालेखों में भी पाया जाता है। शिलालेख में यह भी कहा गया है कि—

किसी भी मनुष्य को किसी के 'पाखण्ड' की निन्दा करके उसे दुखी नहीं करना चाहिये, ऐसी महाराज अशोक की आज्ञा है।

गीता में भी कहा है —

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

अर्थात् स्वधर्म में स्थिर रहते हुए मर जाना अच्छा है। परधर्म भयानक होता है।

एक व्यक्ति जवाहरात का धन्धा करता है। उसे उसमें दिलचस्पी है, कमाई है। अगर वह अपने पुत्र को इस धन्धे में निपुण बनाना चाहता है तो उसे चाहिये कि वह अपने पुत्र के सामने किसी दूसरे व्यवसाय की प्रशंसा न करे। ऐसा करने से वह भी जवाहरात के व्यवसाय में निपुण हो जायगा और दिलचस्पी लेने लगेगा। अन्यथा अस्थिर-चित्त होकर असफल रहेगा।

पर-पाखण्ड शब्द का अर्थ यह नहीं है कि किसी को मिथ्यात्वी कहना अथवा उसकी निन्दा करना, वरन् परम्परागत सदाचार का पालन करना, उसी में बुद्धिपूर्वक अनुरक्त रहना, उसका लापरवाही से त्याग न करना। हां, अगर परम्परागत आचार सदाचार न होकर दुराचार हो तो उसे उसी समय त्याग देना चाहिये।

मगर इसमें साधारण आदमी का कोई दोष नहीं है, क्योंकि साधारण व्यवहार में बोलचाल में 'पाखण्ड' शब्द दंभ के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। फिर भी शास्त्रीय भाषा में 'पाखण्ड' व्रत पालन का द्योतक निर्दोष अर्थ में व्यवहृत किया गया है।

'पाखण्ड' शब्द अनेकार्थक है। इसका अर्थ दंभ भी है और व्रत भी है।

श्री दशवैकालिक सूत्र के द्वितीय अध्ययन की (निर्युक्ति १८८ की) टीका में 'पाखण्ड' शब्द का अर्थ व्रत किया गया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

पाखण्डं व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि ।
स पाखण्डी वदन्त्यन्ये, कर्मपाशाद् विनिर्गतः ॥

अर्थात्—पाखण्ड व्रत को कहते हैं। व्रत जिसका निर्मल होता है ऐसा कर्म-बन्धन से मुक्त पुरुष पाखण्डी अर्थात् व्रती कहलाता है।

गृहस्थ के आवश्यक कर्त्तव्यों में 'प्रतिक्रमण' भी एक आवश्यक कर्त्तव्य है। सम्यग्दर्शन सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र में जो अतिचार लगे हों उनका प्रतिक्रमण किया जाता है। अर्थात् उन पापों का प्रायश्चित तथा आलोचन किया जाता है।

सम्यक्-दर्शन अर्थात् विशुद्ध श्रद्धान में शंका कांक्षा विचिकित्सा परपाखण्डप्रशंसा परपाखण्डसंस्तव यह पाँच अतिचार लगते हैं। इन पाँच अतिचारों में आये हुए अन्तिम दो अतिचार

परपाखण्डप्रशंसा तथा परपाखण्डसंस्तव—पर यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है।

'पाखण्ड' का अर्थ यदि सिर्फ दंभ या कपट ही माना जाय, तो उससे पहले 'पर' विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता थी ?

'अगर मैंने 'पाखण्ड' की प्रशंसा की हो तो मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' इतना कहने से पाखण्ड-प्रशंसा के दोष से रहित हो-सकते हैं। ऐसा न कह कर 'परपाखण्डप्रशंसा' किस उद्देश्य से कहा गया है ? पाखण्ड शब्द का एक अर्थ दंभ भी है, जो लोक में बहुत प्रचलित है। मताग्रही लोग दूसरे के धर्म का तिरस्कार करने के लिए उसे पाखण्ड शब्द से पुकारते हैं। एक दूसरे पर आक्षेप करते हुए शैव वैष्णवों को, वैष्णव शैवों को, जैन अन्य धर्मावलम्बियों को और अन्यधर्मी जैनधर्मी को पाखण्डी शब्द से संबोधन करते हैं।

मगर पाखण्ड शब्द का अर्थ सभी जगह 'दंभ-कपट' करना शास्त्रसम्मत नहीं है। पापों का नाश करने वाला व्रत भी पाखण्ड कहलाता है। जैनशास्त्र में ऐसा उल्लेख मिलता है।

स्थानांगसूत्र में पाखण्डधर्म का उल्लेख मिलता है, जिसमें व्रतधारियों का धर्म भी प्रतिपादित किया गया है।

प्रश्नव्याकरण-सूत्र के द्वितीय संवरद्वार में भी इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है —

'अणेगपासंडिपरिग्गहियं।'*

अर्थात् अनेक व्रतधारियों द्वारा स्वीकार किया हुआ व्रत पाखण्ड कहलाता है। जिन्होंने उस व्रत को अंगीकार किया हो वे पाखण्डी कहलाते हैं। इन पाखण्डियों अर्थात् व्रतधारियों के द्वारा सत्यव्रत ग्रहण किया गया है अतएव वह 'अनेकपाखण्डी परिगृहीत' कहलाता है।

पाखण्ड शब्द का अर्थ सिर्फ 'धर्म' होता तो श्रमण के विशेषण के रूप में 'पाखण्डी' शब्द का प्रयोग न किया जाता।

श्री दशवैकालिक सूत्र में 'समण-श्रमण' शब्द की व्याख्या करते हुए 'पाखण्डी' शब्द 'व्रतधारी' अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

गाथा यह है—

पव्वइए अणगारे, पासण्डे चरग तावसे भिक्खू।
परिवाइए य समणे निग्गंथे संजए मुत्ते॥

अर्थात्—श्रमण-साधु को प्रव्रजित, अनगार, पाखण्डी, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, निर्ग्रन्थ, संयत, और मुक्त, आदि अनेक नामों से संबोधित किया जाता है।

इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि स्थानांग, प्रश्नव्याकरण और दशवैकालिक आदि सूत्रों में 'पाखण्ड' शब्द व्रत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

टीका—* अनेकपाखण्डिपरिगृहीतं—नानाविधव्रतिभिरङ्गीकृतम्।

अतएव पाखण्ड का अर्थ हुआ व्रत। व्रत पाप से रक्षा करता है और पाप का खण्डन करता है। जिसमें इतना व्रताचार होता है उसे पाखण्डी या व्रती कहते हैं। यह पाखंडधर्म अर्थात व्रतधर्म ग्राम, नगर और राष्ट्र में फैलने वाले दंभ-अधर्म को रोकता है और धर्मभावना जागृत करता है। अगर पाखण्डधर्म से धर्मप्रचार के बदले अधर्म फैलता है तो उसे 'धर्म' कैसे कहा जा सकता था? वास्तव में पाखण्डधर्म, धर्म की रक्षा और अधर्म का नाश करता है। अतएव पाखंड, दंभ का द्योतक नहीं वरन् धर्मव्रत या व्रतधर्म का सूचक है।

पाखण्ड शब्द के अर्थ में लौकिक और लोकोत्तर—दोनों प्रकार के व्रतों के पालन का समावेश हो जाता है। साधु-अवस्था में जैसे व्रतों का पालन होता है, गृहस्थावस्था में भी व्रतों का पालन हो सकता है, और होता भी है। शास्त्र में कहा है—

'गिहिवासे वि सुव्वया'—उत्तराध्ययनसूत्र।

अर्थात गृहस्थ-अवस्था में रह कर भी जो पुरुष सुव्रत का पालन करता है वह सुव्रती* कहलाता है।

---

* आदर्श गृहस्थाश्रम की मर्यादा में रह कर धर्म के नियमों का समुचित रूप से पालन किया जाय तो आगे जाकर वह त्यागी गृहस्थ आदर्श त्यागी जीवन व्यतीत करके कूर्मापुत्र केवली के समान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन सकता है। गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को निभाते हुए त्यागी जीवन बिताना सरल नहीं है। ऐसा करना तलवार की धार पर चलना है। इस दृष्टि से पाप-श्रमणोंकी अपेक्षा त्यागमय जीवन यापन करने वाले सुश्रावक सुव्रती होते हैं। साधुता प्रकट करनेकी पहली मँजिल सुश्रावक बनना है।

सत्य, क्षमा, सद्भाव आदि सद्गुणों का सेवन करना भी एक प्रकार का सुकृत है। कहा भी है—

'सत्पुरुषाः सुकृतमन्तः'

अर्थात्—सज्जन-सत्पुरुष धर्म आदि सद्गुणों का सेवन करने से वे सुकृती कहलाते हैं।

विपदाओं के पहाड़ टूट पड़े, खाने पीने के लाले पड़ते हों, तब भी जो धीर वीर पुरुष अपनी उदार प्रकृति को स्थिर रखता हुआ अपने सदाचार से तिल भर भी नहीं डिगता वह सच्चा सुकृती कहलाता है। जहाँ सुकृतियों की संख्या जितनी अधिक होती है वह ग्राम, नगर और वह देश उतना ही सुरक्षित रहता है। सुकृतियों के सदाचार रूप प्रबल बल के मुकाबिले शत्रुओं का दल-बल निष्फल-निस्तेज बन जाता है।

नीतिकारों ने ठीक ही कहा है—

> प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्,
> असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः।
> विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयञ्च महताम्,
> सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम्॥

आपत्ति आने पर भी अपना मस्तक ऊँचा रखना, महान् पुरुषों के चरण चिह्नों पर चलना, न्याययुक्त आजीविका में अनुराग रखना, प्राण जाने का प्रसंग उपस्थित होने पर भी पाप कर्म में प्रवृत्त न होना, दुर्जनों से किसी वस्तु की याचना न करना,

निर्धन मित्रों के सामने हाथ न फैलाना, यह असिधाराव्रत (तलवार की धार पर चलने के समान कठोर व्रत) सज्जनों को किसने सिखाया है? अर्थात् यह सद्गुण सज्जन-पुरुषों में स्वाभाविक ही पाये जाते हैं।

जब ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म, इन तीनों धर्मों का यथोचित पालन होता है तब व्रत रूप पाखण्ड धर्म का उदय स्वत हो जाता है। और पाखण्डधर्म के उदय से धर्मशील मनुष्यों में रही हुई शक्ति और स्फूर्त्ति का विकास होता है। शक्ति और स्फूर्त्ति का विकास होने पर धर्मप्रिय व्यक्ति कठिन व्रतधर्म का भी पालन कर सकता है और अपनी धर्मप्रियता का जगत् को परिचय देकर जन समाज के समक्ष उच्च आदर्श उपस्थित कर सकता है। ऐसे व्रतधारी कष्टों और संकटों के आने पर मेरु पर्वत के समान निष्कंप-अटल बने रहते हैं। प्राण जाते हों तो जाएँ, पर धर्म न जाय, इस प्रकार का सुदृढ संकल्प करने वाला और उस पर अडा रहने वाला वीर पुरुष सच्चा व्रतधारी है। ऐसे सुव्रती के सदाचार के प्रसाद से देश, समाज और धर्म उन्नत बनते हैं।

महापुरुषों ने धर्म की जो मर्यादा स्थिर की है, उस मर्यादा का घोर संकट के समय भी उल्लंघन न करना व्रतधारी का महान् व्रत है।

'न्यायवृत्ति रखना और प्रामाणिक रहना' यह सुव्रतियों का मुद्रालेख है। यह मुद्रालेख उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है। सुव्रत अन्याय के खिलाफ अलख जगाता है। वह न स्वयं अन्याय करता है और न सामने होने वाले अन्याय को चौटा

टुकुर-टुकुर देख सकता है। वह अन्याय का प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध रहता है। अन्याय का प्रतिकार करने में वह अपने प्राणों को हँसते हँसते निछावर कर देता है। वह समाज और देश के चरणों में अपने जीवन का बलिदान देकर भी न्याय की रक्षा करता है। सुव्रतियों का सुव्रत ऐसा कठोर होता है।

पर आजकल के व्रतधारी कहलाने वालों की मनोदशा सर्वथा विपरीत जान पड़ती है। आज तो ऐसी दशा है कि फूटी कौड़ी के लिए अपने तुच्छ स्वार्थ की सिद्धि के लिए सत्य को असत्य न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म कहते हुए भी अनेक व्रतधारी कहलाने वाले लोग, तनिक भी नहीं झिझकते। पर उन्हें इतना जान लेना चाहिए कि नाम से व्रतधारी होने से कुछ बनता नहीं है। व्रतधारी बनना तलवार की धार पर चलना है।

आज धर्म अधर्म का विवेक नष्टप्राय हो रहा है। इसी कारण जन-समाज में ऐसी मिथ्या धारणा घुस गई है कि जितनी देर सामायिक में बैठा जाय बस उतना ही समय धर्म में व्यतीत करना आवश्यक है। सामायिक समाप्त की, दुकान पर पैर रक्खा और और धर्म भी समाप्त हुआ। दुकान पर तो पाप ही पाप करना होता है। वास्तव में यह धारणा भ्रमपूर्ण है। सामायिक में बैठ जाने मात्र से धर्म नहीं होता। रात-दिन की शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों से ही पुण्य-पाप का हिसाब होता है।

फिर सामायिक में भी शुद्ध धर्मक्रिया कहाँ की जाती है? बहुत बार सामायिक के समय भी चुगली परनिन्दा क्रोध आदि दुष्ट मनोवृत्तियों का सेवन करके, पुण्योपार्जन के बदले पाप की कमाई की जाती है। सामायिक, समभाव जीवन का अमोघ और

अतिशय प्रशस्त साधन है। समभाव सीखने के बदले, अगर सामायिक में भी निन्दा-विकथा, क्रोध लोभ आदि विभावों का मैल सचित किया तो सामायिक व्रत का पालन नहीं हो सकता। व्रत का उचित रूप से पालन न होने से शुभ परिणाम के बदले प्राय अशुभ परिणाम होता है। सामायिक जैसा पावन व्रत समभाव का पोषक और आत्मोन्नति का साधक होना चाहिए। ऐसा करने में ही व्रतधारी की शोभा है।

सामायिक व्रत का दुरुपयोग करने के बदले अगर सदुपयोग किया जाय तो अपने घर में, समाज में, देश में सदैव उठ खड़े होने वाले अनेक रगड़े-झगड़े और क्लेश अपने आप ही समाप्त हो सकते हैं। इतना ही नहीं, सामायिकव्रत का पालन करने से कचहरी में जाकर अनेक झूठे सच्चे दाव खेलने के प्रपच भी निश्चित रूप से नष्ट हो सकते हैं। धर्मशास्त्र एक प्रकार का आध्यात्मिक 'पिनल कोड' है। धर्मसूत्रों के धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक कायदे-कानून इतने सुन्दर और न्यायसगत हैं कि अगर हम निर्दोष भाव से उनका अनुकरण करें तो देश, समाज या कुटुम्ब में घुसे हुए अनेक प्रकार के पारस्परिक वैर भाव स्वत शान्त हो सकते हैं। मगर धर्मशास्त्रों के कानूनों का पालन करना सामान्य जनता के लिए सरल नहीं है। जो पुरुष सुव्रती हैं, जिनकी आत्मा धर्म के रंग में रंगी हुई है, वही धर्मवीर धर्म-व्रत का भलीभाँति पालन कर सकते हैं।

सच्चा व्रतधारी, सद्धर्मी पुरुष, प्राणों का नाश होने पर भी धर्म का नाश नहीं होने देता।

दृढ़ता पूर्वक धर्म का पालन किस प्रकार किया जाता है इस प्रश्न का अच्छा उत्तर सुदर्शन श्रावक के जीवन चरित्र से मिलता है।

सुदर्शन श्रावक ने शूली पर चढ़कर प्रसन्नतापूर्वक प्राणोत्सर्ग करना स्वीकार किया पर अभया रानी की प्रार्थना स्वीकार न की। क्या उसे अपने प्राण प्यारे नहीं थे ? इस प्रश्न का उत्तर है उससे पहले ही सुदर्शन सेठ की आत्मा बोल उठेगी—'मुझे प्राण प्यारे थे पर धर्म प्राणों से भी अधिक प्यारा था। मेरा अन्तरात्मा धर्मरक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग करने की प्रेरणा करता था।

इसी प्रकार का एक और उदाहरण व्रतपालन की कठिनता और महत्ता समझाता है वरुण नामक, बारह व्रतों को धारण करने वाला एक श्रावक राज्याधिकारी था। वह व्रतपालन के साथ ही साथ अपने कर्त्तव्य के अनुसार राज्यकार्य-संचालन भी करता था।

एक बार किसी राजा ने वरुण के स्वामी राजा पर अचानक हमला बोल दिया। राजा ने अपने राज्याधिकारियों को शस्त्रास्त्र से सेना सजाने की आज्ञा दी।

सेना तैयार हुई। अधिकारी गण सेना के साथ चले। सेना युद्धभूमि में आ डटी।

दोनों तरफकी सेनाओंका आमना सामना हुआ और थोड़ी ही देर में घोर संग्राम छिड़ गया। परस्पर में शस्त्रोंका प्रहार होने लगा। वरुण को भी युद्ध में सम्मिलित होने का आदेश दिया गया। वरुण ने कहा—

जो कोई अत्याचारी अन्यायी मुझ पर शस्त्र उठाएगा, मैं भी उसके विरुद्ध शस्त्र का प्रयोग करूंगा। अलबत्ता, निरपराध जीवों को न मारने की मेरी व्रत प्रतिज्ञा है। मैं अपने प्राणों का खतरा उठा करके भी इस प्रतिज्ञा का पालन करूँगा। युद्ध में सम्मिलित होने के राजकीय आदेश को शिरोधार्य करना मेरा पहला कर्त्तव्य है, साथ ही निरपराधों पर हाथ न उठाने की व्रत-प्रतिज्ञा का पालन करना भी मेरा कर्त्तव्य है।

वरुण युद्ध में शामिल हुआ। अन्त में सनसनाता हुआ एक तीर आया और वरुण के हृदय में विंध गया। वरुण उसी समय जमीन पर गिर गया। अपराधी जीव को अपराध का बदले देने में व्रत भंग नहीं होता, यह जानकर उसने सभल कर हाथ में अस्त्र-शस्त्र लिये और एक जैन वीर की भाँति अपने व्रत की रक्षा करता हुआ दिलोजान से लडा। उसने राजाज्ञा और व्रत प्रतिज्ञा दोनों का पालन करके अपने पवित्र कर्त्तव्य का निर्वाह किया। राष्ट्ररक्षा और व्रत प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए, अपने प्राणों का बलिदान देकर वीर वरुण मृत्यु का आलिंगन करके अमर बन गया*।

शास्त्र में वर्णित यह दृष्टान्त क्या शिक्षा देते हैं? यही कि अशाश्वत शरीर की रक्षा के निमित्त शाश्वत धर्म का नाश मत करो। मनुजी का यह धर्म-सूत्र हमें धर्म-रक्षा का कर्त्तव्य समझाता है —

धर्म एव हतो हन्ति,
धर्मो रक्षति रक्षितः।

* देखो भगवती सूत्र।

अर्थात्—अगर हम धर्म का नाश करेंगे तो धर्म हमारा नाश करेगा और यदि हम धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म हमारी रक्षा करेगा।

धर्म पालन करना कितना कठिन है, इस बात को समझने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण और लीजिये।

जोधपुर के राठौड़ वीर दुर्गादास का नाम शायद ही किसी ने न सुना हो। वह एक सच्चा राजपूत नर-वीर था। वह दृढ़ धर्मी और स्वामीभक्त सेवक था।

एक बार दुर्गादास औरंगजेब बादशाह के पंजे में पड़ गया। वहाँ बादशाह की बेगम गुलनार इस नर-वीर का ओजस् देख कर पागल होगई। वह दुर्गादास के पास एकान्त में आई और अपने आपको अपनाने के लिए उससे प्रार्थना करने लगी। उसने दुर्गादास को अनेक प्रलोभन भी दिये। वह कहने लगी—हे नर-वीर! अगर तुम मेरी प्रार्थना स्वीकार करो तो आज ही इस बादशाह का काम तमाम करके तुम्हें दिल्ली का सम्राट् बना दूंगी।

दुर्गादास बेगम की प्रार्थना सुन कर अवाक् रह गया। वह सोचने लगा—बेगम यह क्या कह रही है?

दुर्गादास दृढ़ धर्मी था। वह नरवीर था। उसने सिर्फ इतना ही कहा—'मां तुम यह क्या कह रही हो? तुम मेरी माता हो।'

बेगम 'मां' का शब्द सुनते ही आग बबूला होगई। उसने कहा—दुर्गादास! जरा होश में आओ। 'मां' शब्द बोलते हुए जरा विचार करो फिर विचार करो। बिना विचारे बात मत कहना।

अब दुर्गादास चुप था। वह समझता है—मैंने जो कुछ भी कहा है, उसमें बिना विचारा एक भी शब्द नहीं है। उसे अपने शब्दों पर पूरा २ विश्वास था। वह स्वयं निर्भय था। उसे किसी का भय न था। प्राणों का भी भय न था। भय था तो सिर्फ पाप का। अतएव जब बेगम कह चुकी तो दुर्गादास ने कहा—'मा, मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ, विचारपूर्वक ही कह रहा हूँ। जान पड़ता है, तुम स्वयं बे भान हो रही हो।'

बेगम गुलनार को दुर्गादास के यह शब्द ऐसे मालूम हुए, जैसे तीखा तीर हृदय में चुभ रहा हो। वह नागिन की नाईं फुसकार उठी। बोली—'जानते हो, मेरे वचनों की अवगणना करने वाले की दुर्गति होती है ? अच्छी तरह समझ लो, मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले को इस तलवार का शिकार होना पड़ता है। खूब समझ-बूझ लो और अन्तिम निर्णय कर लो। एक ओर दिल्ली का रत्नजडित सिंहासन है, हिन्दुस्थान की बादशाहत है, गुलनार है, और दूसरी ओर यह लपलपाती तलवार है। बोलो, क्या इरादा है ?

गुलनार आगे कुछ और कहना चाहती थी कि इतने में ही दुर्गादास निर्भय सिंह की तरह गरज उठा—'मा, मैं तुम्हारे मुख से इस प्रकारके गन्दे शब्द सुनना नहीं चाहता। मेरा प्राण सदाचार की बलिवेदी पर चढने के लिए तड़प रहा है। मुझे प्राण की परवाह नहीं है। मुझे सदाचार की चिन्ता है। मैं प्राणों की अपेक्षा सदाचार को अधिक प्यार करता हूँ।

दुर्गादास का यह सदाचारधर्म हमारे सामने क्या आदर्श उपस्थित करता है ? वह सदाचार की महिमा का प्रकाश करता है।

५

कुलधर्म

[कुलधर्म]

—— ० ——

वसे गुरुकुले णिच्चं

आज लोग कुलधर्म – कुलीनता को भूल कर केवल कुल शब्द मे चिपट कर उच्च – नीच की व्याख्या करते हैं। इस कारण देश और समाज में घोर विषमता और अव्यवस्था फैल रही है। कुलीनता की तराजू पर जिस दिन उच्चता – नीचता तोली जायगी उसी दिन लोगो की भ्रमणा भाग जायगी। उस समय साफ़ मालूम होगा कि यह संकीर्ण जातिवाद समाज की बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श है।

सस्कारिता, नागरिकता, राष्ट्रीयता और धर्मशीलता के पारस्परिक सबन्ध के विषय मे विचार किया जा चुका। अब यह विचार करना है कि इन सब सद्‌गुणो का विकास मानव समाज मे कब किस प्रकार होता है ? जरा गहराई से विचार किया जाय तो स्पष्ट मालूम हो जायगा कि उपर्युक्त सद्‌गुणों का उद्‌भव-स्थान गृह-सस्कार है। माता-पिता के सद्‌व्यवहार से गृह-सस्का

सुधरते हैं। यही गृह-संस्कार सुधरते-सुधरते कुटुम्ब-संस्कार का रूप धारण करते हैं और जब इन कौटुम्बिक संस्कारों का क्षेत्र कुछ विस्तीर्ण होता है तब ये संस्कार सम्पूर्ण कुल के संस्कार बन जाते हैं। इस प्रकार कुल के संस्कार गृह और कुटुम्बके संस्कारों में से पके हुए विस्तीर्ण संस्कार मात्र हैं।

कुल की संस्कृति से जिस कुलीनता का उद्भव होता है, वही कुलीनता मानव-समाज में सुख-शान्ति का बीजारोपण करती है। कुल के आचार-विचार विकसित होते-होते जाति के आचार-विचार बनते हैं जाति के आचार-विचार संघ के आचार-विचार के रूप में परिणत हो जाते हैं और संघ के आचार-विचार का प्रभाव समूचे राष्ट्र पर पड़े बिना नहीं रहता।

भलीभांति विचार करने से जान पड़ेगा कि मानवसमाज की सुख-शान्ति की वृद्धि करने में कुलधर्म का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज विश्वशान्ति खतरे में पड़ी हुई है, इसके अनेक कारणों में से एक कारण कुलधर्म की अवहेलना भी है।

कुल-धर्म क्या है? कुलधर्म मानव-समाज का कितना कल्याण-साधन कर सकता है? कुलधर्म के पुनरुद्धार से समाज धर्म और राष्ट्र का कल्याण किस प्रकार हो सकता है? इन प्रश्नों पर यहां संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

परिजनों का समूह कुल कहलाता है। धर्म का अर्थ कर्त्तव्य है। परिजनों के समूह का आचार-विचार कुलाचार कहलाता है।

जिस आचार-विचार से, जिस व्यवहार से और जिस कार्य पद्धति से कुल की प्रतिष्ठा बढ़ती है, कुल की नामवरी बढ़ती है,

कुल की मानमर्यादा बढ़ती है, कुल ऊंचा बनता है संक्षेप में कुल में 'कुलीनता' आती है वह आचारविचार, व्यवहार और कार्य-पद्धति 'कुलधर्म' है।

कुल का क्षेत्र काफी विस्तीर्ण है। कुल की मर्यादा में कुटुम्ब का और घर की मर्यादा का समावेश हो जाता है।

कुल के संस्कारों को विशुद्ध बनाने के लिए सबसे पहले घर के और कुटुम्ब के संस्कार सुधारने की आवश्यकता होती है, क्योंकि घर संस्कृति का सर्जन करने की सजीव शाला है। नन्हें नन्हें बालक उस शाला के शिष्य हैं और माता पिता उसके शिक्षक हैं।

ज्यों ज्यों बालक की संस्कृति का क्षेत्र बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसके गृहसंस्कार भी कुटुम्ब संस्कारों के रूप मे परिणत होते जाते हैं। बालक जब थोड़ा बड़ा होता है तो वह घरका आंगन छोड़ कर कुटुम्ब के आंगन में पैर धरता है और वहां के संस्कार ग्रहण करता है। अपने घर में ही मिले हुए संस्कारों का और पड़ोसी कुटुम्बी के घर में मिले हुए संस्कारों का बालक में संमिश्रण होता रहता है। पर जैसे जैसे बालक की बुद्धिका विकास होता जाता है, वह गृहसंस्कारों और कुटुम्ब-संस्कारों का पृथक्-करण करता चला जाता है। फिर भी गृहसंस्कार और कुटुम्ब के संस्कार उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में प्रधान भाग लेते हैं।

बालक जब कुछ और बड़ा होता है तब वह घर का और कुटुम्ब का भी आंगन छोड़कर गलियों में खेलना सीखता है और फिर गलियों में से कुल के घरों तक जा पहुंचता है। यहां उसे

नर्वीन संस्कार मिलते हैं और वह उन्हें अपनाता जाता है। अन्त में वह कुलधर्म को समझने लगता है और उसी के अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न भी करता है।

जब बालक की बुद्धि कुलधर्म को समझने के योग्य परिपक्व होती है तब वह यह भी समझने लगता है कि उसका कुलधर्म मुख्य रूप से दो भागों में बँटा हुआ है। एक कुलधर्म लौकिक है, जो माता-पिता सगे-संबन्धी तथा अन्य गुरुजनों की आज्ञा पालन करते हुए वंशवृद्धि का वंश के पालन का, देश की व्यवस्था का और लोकजीवन की समुचित शिक्षा-दीक्षा का उपदेश देता है। दूसरा कुलधर्म लोकोत्तर है, जो लोकजीवन को सफल बनाने का उपदेश देकर मुक्तिमार्ग की ओर अग्रसर होने की शिक्षा देता है।

लौकिक कुलधर्म और लोकोत्तर कुलधर्म, दोनों की शिक्षा दीक्षा देने की प्रणाली भिन्न भले हैं जान पड़ती हो मगर दोनों का आदर्श एक ही है-मानवसमाज में सद्भाव,सुख शान्ति की स्थापना करना। लौकिक कुलधर्म इस आदर्श पर पहुँचने के लिए शुभ प्रवृत्तिमार्ग का विधान करता है और लोकोत्तर कुलधर्म शुभ निवृत्ति मार्ग का। और यह शुभ प्रवृत्ति एवं निवृत्ति ही धर्म का परिपूर्ण रूप है।

यद्यपि सुख-शान्ति प्राप्त करने के कुलधर्म के मूल आदर्शों को प्राप्त करने के लिए निवृत्तिमार्ग प्रवृत्तिमार्ग की अपेक्षा अधिक सीधा है परन्तु आचरण में यह कठिन है। जबकि प्रवृत्तिमार्ग थोड़ा टेढ़ा होने पर भी सुगम है।

साधारण मनुष्यों के लिए निवृत्तिमार्ग सरल नहीं है। यह

मार्ग उन मुनि महात्माओं के लिए है जो सांसारिक भोग तृष्णा से विमुख होकर केवल मोक्ष की सिद्धि के लिए ही सदा प्रयत्नशील रहते हैं। और यह शुभ प्रवृत्ति के चक्करदार मार्ग से जाने वाले बहुत हैं। उनमें से जो लोग कुलधर्म के ध्येय के अनुसार सदाचार और सद्विचार (सूत्र-चारित्र धर्म) का सेवन करेंगे वे धीरे-धीरे निवृत्ति मार्ग द्वारा मोक्षमार्ग में पहुँच सकेंगे।

लोकोत्तर कुलधर्म के मार्ग पर चलने वालों को भी लोकोत्तर गुरु की पाठशाला में समभाव, सहिष्णुता सम्यक ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्चारित्र आदि की विधिपूर्वक शिक्षा लेनी पड़ती है गुरु के समीप समुचित रूप से शिक्षा दीक्षा लेने वाला मोक्षार्थी शिष्य लोकोत्तर कुलधर्म का पालन कर सकता है और शनै शनैं अन्त में मुक्ति लाभ कर सकता है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि निवृत्तिमार्ग पर चलकर सूत्र-चारित्र धर्म का आराधन करना ही धर्म है। इससे अतिरिक्त प्रवृत्तिमार्ग एकान्त पापमार्ग है। यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। जिनको ऐसी मान्यता है उनसे पूछना चाहिए कि सत्प्रवृत्ति द्वारा कुल के आदर्श उन्नत बनाना भी क्या पाप है ? अगर कुल का आदर्श उन्नत बनाना पापमय प्रवृत्ति है तो कुल को अधोगति में पटकना धर्म है ?

लौकिक कुलधर्म का सम्यक् प्रकार से पालन करना सरल नहीं है। सच्ची कुलीनता प्राप्त करने के लिए निरन्तर अध्यवसाय करने की आवश्यकता रहती है। प्राण भले ही चले जाएँ, मगर सच्चा कुलधर्मी अपने पूर्वजों से चले आये सद्व्यवहार का त्याग नहीं कर सकता। कुलधर्मी भूखा मर जायगा, पर पेट की आग

कुमार के लिए वह चोरी या असत्य का आचरण करना वज्रपात के समान दुःख मानता।

राणा प्रताप ने केवल कुलधर्म की टेक रखने के लिए—कुलधर्म की रक्षा के लिए स्वेच्छापूर्वक अनेक दुःखों की परम्परा स्वीकार की थी। क्योंकि अपना वश चलते अपनी कुल की स्वतन्त्रता नहीं बिकने दी। मनुष्य की कुलीनता की कसौटी दुःख के प्रसंग पर ही होती है। जो पुरुष संकट के समय अपनी कुलीनता की रक्षा करता है वही कुलधर्म का पालन करके 'कुलीन' कहलाता है।

आज सर्वसाधारण में यह मान्यता प्रचलित होगई है कि उच्च कहलाने वाले कुल में जन्म लेने से ही कुलीनता आजाती है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। मनुष्य की कुलीनता उसकी कुलमर्यादा के अनुसार सत्प्रवृत्तियों पर अवलंबित है।

भगवान् महावीर ने जातिवाद के बदले गुणवाद को अधिक महत्त्व दिया है*। शास्त्र में कहा है—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, कम्मुणा होइ सुद्दओ॥

अर्थात्— कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र होता है।

वास्तव में कोई मनुष्य उच्च कुल में जन्म लेने मात्र से उच्च नहीं हो जाता। इसी प्रकार नीच कुल में जन्म लेने मात्र से कोई नीच नहीं होता। उच्चता और नीचता मनुष्य की अपनी और

---

*जातिवाद और गुणवाद में युग-युगान्तर से तीव्र संघर्ष होता आया है। जातिवाद को बर्बाद करने के लिए गुणवाद ने और गुणवाद

बुरी प्रवृत्तियों पर अवलंबित है। मनुष्य सत्प्रवृत्ति करके अपना चारित्र उच्च बनाएगा तो वह उच्च बन सकेगा। जो असत्प्रवृत्ति करेगा वह नीच कहलाएगा। इसी प्रकार नीच कुल में जन्म लेने पर भी सत्प्रवृत्ति करने वाला पुरुष उच्च बन सकता है। नीच कुल में जन्म लेकर सत्प्रवृत्ति द्वारा ऊंचे दर्जे के महात्मा बने हुए हरिकेशी और मातंग जैसे धर्मगुरुओं का बखान धर्मशास्त्रों में पाया जाता है

आज कुलीनता के आधार पर उच्च-नीच, स्पृश्य-अस्पृश्य का विचार किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि जातिवाद, समाज की एक बड़ी भारी बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श है। इसीलिए भगवान महावीर स्वामी ने गुणवाद का आदर्श जगत् के सामने प्रस्तुत करके जातिवाद की बुराई दूर करने का अथक प्रयास किया था। उन्होंने गुणवाद द्वारा-मानवजीवन के विकास द्वारा, विश्वशान्ति का सन्देश जगत् को सुनाया था। भगवान् महावीर का वह दिव्य संदेश आज हम लोगों को फिर से एक बार सुनने की आवश्यकता है। अगर हम उस दिव्य सन्देश

को मटियामेट करने लिए जातिवाद ने अपना अपना बल आजमाया है। मगर मानवशक्ति के मुकाबिले पाशव शक्ति सदा ही परास्त हुई। गुणवाद का प्रचार करने के लिए भगवान् महावीर ने, महात्मा बुद्ध ने तथा अनेक महर्षियो ने प्रबल प्रयत्न किये हैं। यही कारण है कि उनके द्वारा उपदिष्ट श्री आचारांग, उत्तराध्ययन आदि जैन सूत्रों मे धम्मपद और सुत्तनिपात, संयुक्तनिकाय आदि बौद्ध ग्रन्थो मे तथा भगवद्गीता, उपनिषद् आदि वैदिक ग्रन्थों में गुणवाद से संबंध रखने वाली प्रचुर सामग्री आज भी उपलब्ध होती है।

को सुनें और समझ सकें तो देश में आज ऊँच-नीच की, स्पृश्य-अस्पृश्य की जो जटिल समस्या उत्पन्न हो गई है, उसका सहज ही समाधान हो सकता है।

आज लोग कुलधर्म-कुलमर्यादा को भूलकर केवल 'कुल' से चिपट कर ऊँच-नीच की व्याख्या करते हैं। इस कारण देश और समाज में घोर विषमता और अव्यवस्था फैल रही है। कुलीनता की तराजू पर जिस दिन उच्चता तोली जायगी उसी दिन लोगों की भ्रमणा भाग जायगी। उस समय साफ मालूम होगा कि यह संकीर्ण जातिवाद, समाज की बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श है।

कुलमर्यादा धर्मसाधन का एक अंग है। जब तक मनुष्य अपने कुलधर्म का भलीभांति पालन न करे तब तक वह श्रुत-चारित्र-धर्म और 'आत्मिक धर्म' का आचरण करने में समर्थ नहीं हो सकता। श्रुत-चारित्रधर्म का आधार कुलधर्म है। ऐसा कुलधर्म न होगा तो आत्मिक धर्म कैसे हो सकता है ?

कुछ लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि कुलधर्म सांसारिक व्यवहार की शिक्षा देता है, ऐसी स्थिति में उसे धर्म कैसे कहा जा सकता है ? पर यह भ्रमपूर्ण है। तर्क करने वाले को जानना चाहिए कि कुलधर्म जैसे लौकिकधर्म की शिक्षा देता है उसी प्रकार लोकोत्तर धर्म की भी शिक्षा देता है। इसके अतिरिक्त लोकोत्तर धर्म का आधार लौकिक धर्म है। अतएव अगर लौकिक धर्म व्यवस्थित रूप से न चले तो लोकोत्तर धर्म भी खतरे में पड़ जाता है। इसी लिए भगवान् महावीर ने लौकिक और लोकोत्तर धर्म का समन्वय किया है। व्यवहार और मर्यादा लौकिक धर्म का

प्रतिनिधित्व करते हैं और साधु तथा साध्वी लोकोत्तर धर्म का। चतुर्विध संघ के यह चार प्रतिनिधि आपस की सहमति पूर्वक सम्बन्ध न रक्खें तो जैनधर्म जोखिम में पड़ जाय। भगवान् महावीर के द्वारा की हुई संघशासन की योजना इतनी सुन्दर और व्यवस्थित है कि इसी योजना के कारण आज जिनशासन निर्विघ्न रूप से प्रवर्त्त रहा है।

लौकिक धर्म के प्रतिनिधियों—श्रावक-श्राविकाओं—को लौकिक धर्म का यथावत् पालन करना चाहिए। और लोकोत्तर धर्म के प्रतिनिधियों—साध्वी-साधो को—लोकोत्तर धर्म का यथा-योग्य पालन करना चाहिए। इस प्रकार भगवान् के अनुयायी जब लौकिक और लोकोत्तर कुलधर्म का भलीभांति पालन करेंगे तब भगवान के ही शब्दों में 'जाइसपन्ने-जातिसम्पन्न और 'कुल-सपन्ने' अर्थात् कुलसम्पन्न बनेंगे। तभी कुलीनता रूप धर्मगुण प्रगट होगा। यही धर्मगुण समाज और देश में सुख शान्ति का बीजारोपण करेगा।

—o—

६

ग ण ध र्म

[ग ण ध म्मे]

—— ——

गणतन्त्र-प्रजातन्त्र भारतवासियों की पुरानी वसीयत है। अगर हम में अन्याय मात्र का सामना करने का नैतिक बल मौजूद हो तथा निस्वार्थ मतभेदों एवं स्वार्थों को तिलांजलि देकर राष्ट्र, समाज और गणधर्म की रक्षा करने के लिये बलिदान करने की क्षमता आ जाय तो किसकी सामर्थ्य है जो हमें अपने पूर्वजों की संपत्ति के अधिकार या उपयोग से वंचित कर सके ? गणधर्म में जो असीम शक्ति विद्यमान है, उसका अगर हम लोग सदुपयोग करना सीख लें तो जैनधर्म विश्व में सूर्य की भाँति चमक उठे।

गण अर्थात् समूह। गण का प्रत्येक सभ्य राष्ट्र की प्रतिष्ठा तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी रहे, उसे कहते हैं गणतन्त्र। सबल के द्वारा निर्बल का सताया जाना या इसी प्रकार का कोई दूसरा अत्याचार गणतन्त्र कभी सहन नहीं कर सकता। निर्बल की सहायता करना, निर्बल को न्याय दिलाने के लिए सर्वस्व का भोग देना पड़े तो भी पैर पीछे न देना, यह गणधर्म पालने वालों का महान् व्रत होता है।

गणतन्त्र की यह व्यवस्था आधुनिक प्रजासत्तात्मक राज्य-प्रणाली से तनिक भी उतरती श्रेणी की नहीं थी। जैनयुग में नव-लिच्छी और नवमल्ली जाति के अठारह गण राज्यों का गणतन्त्र इतिहास में प्रसिद्ध है। अठारह गणराज्योंका यह गणतन्त्र सबलों द्वारा सताई जाने वाली निर्बल प्रजा को पीडा से मुक्त कराने के लिए और उनकी सुख-शान्ति की व्यवस्था करने के लिए तन, मन, धन का व्यय करने में नहीं झिझकता था। असहायों की सहायता करने मे ही गौरव मानता था।

गणतन्त्र की इस पद्धति में गणधर्म का पालन करने वाली प्रजा को कितना सहन करना पडता था उसका इतिहास-प्रसिद्ध उल्लेख* जैन-शास्त्रों में मिलता है।

कहते हैं, जब बड़े भाई कोणिक को मगध का महाराज्य मिला तो विहल्लकुमार-कोणिक का छोटा भाई अपने मातामह राजा चेटक के पास आकर रहने लगा। राजा कोणिक ने वैशाली में जा बसने वाले विहल्लकुमार से हाथी और हार की माँग की। मगध सम्राट् कोणिक को हाथी और हार मागने का कोई अधिकार नहीं था। कोणिक को मगध का राजसिंहासन मिला था और अन्य भाइयों को भी अपना अपना हिस्सा मिला था। पर कोणिक को अपनी सत्ता और शक्ति का मद था। विहल्लकुमार जहाँ आकर टिका था वहाँ गणतन्त्र की सहायता से राज्यव्यवस्था होती थी। वैशाली के गणतन्त्र के सचालक राजा चेटक थे। जब चेटक को कोणिक के अन्याय का पता चला तो उसने अठारह राजाओं को एकत्र किया और कोणिक के अत्याचार का सामना करने की सलाह दी। उसने कहा—

---

*देखो श्री निरयावलिका तथा भगवती सूत्र।

जैसे विहल्लकुमार के अन्य ग्यारह भाइयों को राज्य में से हिस्सा मिला है उसी प्रकार विहल्लकुमार को उसके माता-पिता की ओर से यह हार और हाथी मिला है। इन वस्तुओं पर कोणिक का कुछ भी अधिकार नहीं है। कोणिक अन्यायपूर्वक, अपनी सत्ता के मद में चूर होकर विहल्लकुमार को दबाना चाहता है।

गणतन्त्र के अठारहों राजाओंने कोणिकके अत्याचार के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया। यह भी निर्णय हुआ कि अगर युद्ध करने का अवसर आया तो गणतन्त्र के समस्त राजा एक साथ मिलकर चेटक की सहायता करेंगे। इस घटना से सहज ही समझा जा सकता है कि गणतन्त्रों में अथवा प्रजातन्त्र की राज्यव्यवस्था में प्रजा के सिर पर कितना गंभीर उत्तरदायित्व होता है। विहल्लकुमार सिर्फ राजा चेटक का भानजा (भागिनेय) था। उसके साथ अन्य राजाओं की कोई नातेदारी नहीं थी। फिर भी उन्होंने अन्याय अत्याचार के विरुद्ध युद्ध करने का और विहल्लकुमार को अत्याचार से बचाने का निश्चय किया।

जो प्रजा अन्याय और अत्याचार का अपने पूरे बल के साथ सामना नहीं कर सकती अथवा जो अपने तुच्छ स्वार्थों में ही संलग्न रहती है, वह प्रजा इस प्रकार के गणतंत्र के लिए अपनी योग्यता साबित नहीं कर सकती।

गणतंत्र के संचालक राजागण चाहते तो युद्ध की भयानकता और हिंसा की आड़ में अपना बचाव कर सकते थे और विहल्लकुमार को कोणिक की दया पर छोड़ सकते थे। परन्तु वे समझते थे कि गणतंत्र में इस प्रकार कायरे बचाव को तनिक भी स्थान नहीं है।

अगर छोटे से छोटा भी अत्याचार सहन कर लिया जाय तो गणतंत्र का आसन दूसरे ही क्षण कांपने लगेगा। गणधर्म के धुरन्धर अवसर आने पर कोणिक जैसे शक्तिशाली सम्राट् से भी युद्ध करने को तैयार होगये। नव मल्ली जाति के और नव लिच्छवी जाति के इस प्रकार अठारह राजा चेटक की सहायता करने आ डटे।

गणतंत्र की प्रतिष्ठा की रक्षा के साथ ही, एक के आश्रय में आये हुए राजकुमार के साथ होने वाले अन्याय का प्रतिकार और उसके अधिकार का संरक्षण, यही इस युद्ध का मूल कारण था।

संभव है किसी को यह आशंका उत्पन्न हो कि सत्कार्य को धर्म कहते हैं। यहां तो सिर्फ हार और हाथी न देने के कारण ही घोर संग्राम हुआ। इस संग्राम में असंख्य आदमियों के प्राण गये होंगे। ऐसी स्थिति में अगर हार और हाथी लौटा दिया जाता तो न संग्राम होता और न अनगिनती जानें जातीं। तब हार और हाथी न लौटाकर युद्ध क्यों छेड़ा गया? क्या यह युद्ध धर्मयुद्ध गिना जा सकता है?

यह प्रश्न विचारणीय है। इसका समाधान एक शास्त्रीय उदाहरण देने से अधिक स्पष्ट होगा।

राजा परदेशी ने केशी श्रमण के साथ खूब धर्मचर्चा की। अन्त में राजा केशी श्रमण को 'खमाये' (क्षमायाचना किये) बिना ही जाने को तैयार हुआ। तब केशी श्रमण ने कहा—'राजन्! तुमने लम्बे समय तक मेरे साथ बहुत-सी आढी टेढी बातें की हैं और अन्त में खमाये बिना ही चले जा रहे हो। क्या यह साधु की अवज्ञा नहीं है?

राजा परदेशी ने उत्तर दिया—मैं यह भलीभांति समझता हूं। आपसे क्षमायाचना न करने की मेरी भावना भी नहीं है। मेरा इरादा यह है कि मैं परिवार सहित सेना लेकर आपकी सेवा में उपस्थित होऊं और आपसे क्षमा-याचना करूं।

यहां विचारणीय बात यह है कि अगर राजा उसी समय क्षमायाचना कर लेता तो यह हिंसा कम होती। परिवार और सेना सहित आकर क्षमायाचना करने में तो हिंसा बहुत होगी। ऐसी स्थिति में सेना और परिवार के साथ आकर क्षमायाचना करने में राजा परदेशी का क्या आशय रहा होगा?

अगर परिवार और सेना सहित आकर क्षमायाचना करने में अधिक हिंसा होने की संभावना थी तो केशी श्रमण राजा से कह सकते थे—अगर तुम्हें 'खमाना' है तो इसके लिए परिवार को लाने की क्या आवश्यकता है? ऐसा करने में बहुत अधिक हिंसा होगी। मगर केशी श्रमण स्वामी ने ऐसा कह कर राजा को रोका नहीं। इसका कारण क्या है?

विचार करने पर प्रतीत होता है कि राजा ने अकेले में नहीं खमाया, इसका मर्म यह है कि सपरिवार खमाने के लिए आने में धर्म की असाधारण प्रभावना होती है। जन समाज के ऊपर राजा के इस व्यवहार का गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे धर्म का विशिष्ट उद्योत होता है।

इसी उद्देश्य से केशी श्रमण ने राजा परदेशी को सेना सहित खमाने के लिए आने का निषेध नहीं किया। साथ ही आने जाने में द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की विराधना की संभावना होने के कारण उन्होंने सेना और परिवार सहित आने का आग्रह भी नहीं

किया। इस प्रकार केशी स्वामी ने न तो राजा को आनेकी आज्ञा दी और न उनके आने का निषेध ही किया। इस उदाहरणसे सहज ही समझा जा सकता है कि अधर्म और धर्म का विचार करते समय हमें अनेक दृष्टियों से विचार करना चाहिए। केवल आरम्भ समारम्भ को देखना और उससे होने वाले धार्मिक लाभ की ओर से आंख फेर लेना न्याययुक्त नहीं कहला सकता।

राजा परदेशी मूर्ख न था। वह ज्ञानी था। कदाचित् राजा को अज्ञानी भी मान लिया जाय तो केशी श्रमण तो विशिष्ट ज्ञानी थे। अगर राजा को ऐसा करना उचित न था तो केशी श्रमण ने उसे क्यों नहीं रोक दिया ?

कदाचित् तुम्हे यह शंका हो कि राजा परदेशी की बात श्रुत-चारित्र धर्म से संबंध रखती है, अतएव वह एक जुदी बात है। महाराज कोणिक की बात गणधर्म से संबंध रखती है, अतएव यह एक अलग ही प्रश्न है। दो विभिन्न धर्मों को एक ही कोटि में कैसे रक्खा जा सकता है ?

यहाँ तो प्रश्न यह है कि अगर हार और हाथी को वापस न लौटाया जाय तो बहुत से मनुष्यों के प्राण जाएंगे, ऐसी स्थिति में यह युद्ध कैसे उचित कहा जा सकता है ?

प्रश्न ठीक है। जैसे अकेला परदेशी राजा 'क्षमा' कर चला गया होता तो श्रुत चारित्र-धर्म का प्रभाव जन समाज और सेना पर न होता। इस प्रकार गणधर्मी राजा न्याय अन्याय का विचार न करके, केवल युद्ध की भयंकरता का ही विचार करते और कोणिक को हार, हाथी सौंप देते और शरणागत विहल्लकुमार की सहायता न करते तो प्रजा के ऊपर गणधर्म की महत्ता का प्रभाव

न पड़ता। इतना ही नहीं, वरन् इस स्थिति में प्रजा गणधर्म को 'कायरधर्म' कहती और उसकी महत्ता मिट्टी में मिल जाती। उस समय प्रजा एक स्वर से कहती कि ऐसा डरपोक गण किस मर्ज की दवा है?

इस प्रकार हार और हाथी लौटा देने से अगर गणधर्म खतरे में पड़ जाता तो संघधर्म की रक्षा होती या उसका विनाश होता? यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गणधर्म की रक्षा में संघधर्म की रक्षा है। और गणधर्म के विनाश में संघधर्म का भी विनाश है।

जब तक सिर पर आकर नहीं पड़ा तब तक तो गणधर्म का त्याग हुआ और जब गणधर्म को काम में परिणत करने का नाजुक प्रसंग आया तो गणधर्म को छोड़ दिया। इस प्रकार की लोकनिन्दा कोणिक को हार और हाथी लौटा देने से सब साधारण में फैल जाती। गणधर्म के इस अपवाद से गणधर्म और राजधर्म कलंकित हो जाते। जैसे राजा परदेशी को सेना और परिवार के साथ समालोचना करने के लिए आने से सम्यक्त्व का लाभ हुआ, इसी प्रकार गणधर्म और राजधर्म की कायरता का कलंक दूर करने के लिए अन्याय अत्याचार के प्रतिकार की दृष्टि से और शरणागत विहल्लकुमार की रक्षा की दृष्टि से कोणिक को हार और हाथी न लौटाने में ही गणधर्म का पालन था। इसके लिए युद्ध करना आवश्यक होगया था।

यह युद्ध जैनसूत्रों में 'महाशिलाकंटक' तथा 'रथमूसल' संग्राम के नामों से प्रसिद्ध है। इसमें बहुत से आदमी मारे गये। युद्ध में दैवी सहायता से कोणिक की विजय हुई मगर इतना होने पर भी

गणतन्त्र के धुरन्धरों ने भारी खतरा उठाकर भी अपने गणतन्त्र की प्रतिष्ठा रख ली।

गणतन्त्र-गणधर्म की रक्षा करते हुए जितने मनुष्यों का घात हुआ उन सबका महान पाप मुख्यतः कोणिक के हिस्से में आता है, क्योंकि उसी ने अन्याय का पक्ष लेकर चढाई आरम्भ की थी। गणतन्त्र का उद्देश्य सिर्फ न्याय की रक्षा करना था।

हम लोग भी आरम्भ समारम्भ को धर्म नहीं मानते। परन्तु धर्म की रक्षा करना तो आवश्यक ही है।

आरम्भ समारम्भ के बहाने से आजकल लोगों ने अपनी धर्म-बुद्धि को तिलाञ्जलि देदी है। केवल इसी कारण अनेक समान्य लोग जैनधर्म को डरपोक-धर्म मान बैठे हैं। चेटक राजा तथा नव-लिच्छी और नव मल्ली राजा भगवान महावीर स्वामी के भक्त थे। फिर भी उन्होंने गणधर्म की रक्षा करने और उसकी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए यह युद्ध किया। पहले के मनुष्य इतने विचारशील और धर्मशील थे कि अन्याय को रोकने के लिए अगर युद्ध करना अनिवार्य हो जाय तो उससे एक भी कदम पीछे नही हटते थे। वे लोग शरणागत को शरण न देना और उसे न्याय न दिलाना जरा भी उचित नहीं समझते थे।

जो मनुष्य शरण में आये हुए का त्याग कर देता है अर्थात् उसे आश्रय नहीं देता वह कायर है। जो सच्चा वीर है, जो महावीर भगवान का सच्चा अनुयायी सेवक है, जो उदार और धर्मात्मा है, वह अपना सर्वस्व निछावर करके भी शरणागत की रक्षा और सेवा करता है।

इस युद्ध मे जितने मनुष्यों का वध हुआ, उनकी हत्या का पाप मुख्यत महाराज कोणिक के ऊपर इसलिए डाला जाता है

कि उसने अन्याय का पोषण करने के लिए युद्ध का श्रीगणेश किया था।

गणतन्त्र के नायकों ने महाराज कोणिक को युद्ध न करने के लिए और राजकुमार विहल्लकुमार के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार न करने के लिए खूब समझाया। फिर भी जब कोणिक ने अन्याय का पक्ष न छोड़ा और युद्ध के लिए तैयारी करना शुरू किया तो विवश होकर उन्होंने सत्य और न्यायधर्म का पक्ष लिया। शरणागत की और गणधर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना उनके लिए अनिवार्य हो गया।

चेटक राजा नवमल्ली और नवलिच्छवी जाति के अठारह राजा सम्यग्दृष्टि थे और धार्मिक थे। यद्यपि पहले भगवान महावीर का भक्त था परन्तु उस समय उसने अन्याय का पक्ष ग्रहण किया था।

एक मनुष्य अगर क्रुद्ध भाव से प्रेरित होकर एक चिउंटी की भी हिंसा करता है तो वह पापी है। किन्तु एक चक्रवर्ती राजा या अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए अपनी चतुरंगी सेना को युद्ध के लिए तैयार करता है, अपराधी नहीं कहलाता। इसका प्रधान कारण यह है कि वह चक्रवर्ती सम्राट् स्वार्थसाधन के लिए क्रुद्ध भाव से प्रेरित होकर नहीं वरन् अन्याय और अत्याचार का विरोध करने के लिए विवश होकर युद्ध करता है।

अगर अन्याय और अत्याचार का विरोध करने के लिए कदम न उठाया जाय तो संसार में अन्याय का साम्राज्य फैल जायगा और धर्म का पालन करना असम्भव हो जायगा। जब कि दूसरी तरफ जीवों का वध करने वाला मनुष्य—संकल्पजन्य हिंसा करने

वाला मनुष्य संकल्पजन्य हिंसा करके अपराधी बनता है।

महाराज कोणिक ने जान-बूझ कर हिंसा की परिस्थिति खड़ी की और अन्याय करने पर उतारू होगया। इस कारण कोणिक को निरपराधों की हिंसा करने का पाप लगा, ऐसा कहा जा सकता है। गणतन्त्र के नायकों ने केवल अन्याय और अत्याचार का विरोध करने की दृष्टि से, विवश होकर युद्ध किया, अतएव इस हिंसा का अपराध गणनायकों को नहीं लग सकता।

गणधर्म के स्वरूप के विषय में अगर हम जरा गंभीर विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि गणधर्म और आज का राष्ट्रधर्म एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। आज की राष्ट्रीयता अपने गण-धर्म का एक नवीन संस्करण ही है। राष्ट्रधर्म के प्राणों के समान गणधर्म को टिकाने के लिए प्रजा के प्रत्येक सभ्य को धैर्यबल और आत्मभोग कितनी मात्रा में प्राप्त करना चाहिए, यह बात गणधर्म का स्वरूप समझ लेने से स्पष्ट हो जायगी।

गणतन्त्र-प्रजातन्त्र भारतवासियों की पुरानी वसीयत है। अगर हम में अन्याय मात्र का सामना करने का नैतिक बल मौजूद हो तथा निस्सार मतभेदों एव स्वार्थों को तिलांजलि देकर राष्ट्र, समाज और गणधर्म की रक्षा करने के लिए बलिदान करने की क्षमता आ जाय तो किसका सामर्थ्य है जो हमें अपने पूर्वजों की संपत्ति के अधिकार या उपभोग से वंचित कर सके? गणधर्म में जो असीम शक्ति विद्यमान है, उसका अगर हम लोग सदुपयोग करना सीख लें तो जैनधर्म विश्व में सूर्य की भांति चमक उठे।

७

संघधर्म

[संघधम्म]

सुखा संघस्य सामग्गी, समग्गान तपा सुखा ।

अर्थात्—संघ की सामग्गी (एकता-संगठन) सुखकारक है और ऐक्य-संगठनपूर्वक रहने वाले श्रावक-श्राविका साधु-साध्वी समस्त संघ का तपश्चरण भी सुखकारक होता है। —सुत्तनिपात

जैनधर्म और संघधर्म का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। संघधर्म जैनधर्म रूप विशाल प्रासादका जीवन-स्तंभ है। जैसे धर्मी के बिना धर्म नहीं टिक सकता इसी प्रकार संघधर्म के बिना जैनधर्म नहीं टिक सकता।

स्त्री और पुरुष गृहस्थ-जीवन रूपी रथ के दो चक्र हैं। दोनों में से एक चक्र छोटा बड़ा असमान या टूटा-फूटा हो तो गृहस्थ-जीवन का रथ आगे नहीं चल सकता। इसी प्रकार धर्मरथ के भी दो चक्र हैं—एक श्रावक-श्राविका दूसरा साधु-साध्वी। भगवान महावीर ने धर्मरथ में ज्ञान और चारित्र रूप दो बलवान बैल

जोतकर कुशल धर्मसारथी बन कर धर्मतीर्थ की स्थापना की है। इसी धर्मतीर्थ की स्थापना करके भगवान धर्मतीर्थकर कहलाए। अनेक भव्य जीवों को धर्मरथ में बिठला कर तीर्थंकर प्रभु महावीर ने भगकर भवाटवी से उन्हें पार लगाया और पार लगने का सन्मार्ग बतलाया।

क्या सजीव और क्या निर्जीव, प्रत्येक वस्तु में, अणु-अणु में, अनंत सामर्थ्य भरा पड़ा है। पर वह सामर्थ्य सफल तब होता है जब उसका समन्वय करके संग्रह किया जाता है। शक्तियों का संग्रह न किया जाय और पारस्परिक संघर्ष के द्वारा उन्हें क्षीण किया जाय तो उनका सदुपयोग होने के बदले दुरुपयोग ही हुआ कहलाएगा। शक्तियों का संग्रह करने के लिए संघर्ष को विवेक पूर्वक दूर करने की आवश्यकता है और साथ ही संघशक्ति को केन्द्रित करने की भी आवश्यकता है।

जैसे पानी और अग्नि की परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली शक्तियों के समन्वय से अद्भुत शक्तिसंपन्न विद्युत् उत्पन्न किया जाता है, इसी प्रकार संघ के अंगों का समन्वय करके अपूर्व शक्ति उत्पन्न करने से ही संघ में क्षमता आती है। इसी से संघ का तंत्र सुव्यवस्थित रूप से आगे चलता है।

राष्ट्रतन्त्र, गणतंत्र, समाजतन्त्र और धर्मतन्त्र का संचालन भी संघशक्ति के प्रबल पृष्ठ-बल के प्रताप से ही चल रहा है। इस सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है ?

काम चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा हो, उसकी सिद्धि के लिए संघशक्ति की परम आवश्यकता है। इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए समस्त मानव-समाज संघस्थापना की योजना स्वीकार करता है छोटी-मोटी संस्थाएँ, युवकसंघ, विद्यार्थीसंघ, मंडल, गच्छ,।

समाजें सम्प्रदाय आदि विभिन्न नामों से जुदा-जुदा संघ लोकमत जागृत करके अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए प्रयत्न करते हैं।

एक व्यक्ति की शक्ति, चाहे कितनी ही बलवती क्यों न हो जब तक बिखरी हुई अन्य शक्तियों को एकत्र न किया जाय-संघ रूप में परिणत न किया जाय तब तक, उससे कार्यसिद्धि नहीं होती।

नीतिकार भी संघ-शक्ति की महत्ता को स्वीकार करके उस पर बहुत अधिक जोर देते हैं। 'संहति श्रेयसी' अर्थात् संघशक्ति कल्याणकारिणी है, इतना कह कर ही उन्होंने संतोष नहीं किया। इस लिए तुच्छ समझ कर उपेक्षा या अवहेलना की दृष्टि से देखने हैं उन तुच्छ प्रतीत होने वाले व्यक्तियों का संगठन करके संघबल का निर्माण करना चाहिए और संघबल का निर्माण होने पर ही 'संहति कार्यसाधिका' अर्थात् संघ शक्ति ही फलदायिनी होती है। इस प्रकार कहकर नीतिकार संघशक्ति का महत्त्व स्वीकार करते हैं। कहा भी है—

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः॥

तिनके जैसी तुच्छ वस्तु को एकत्र किया जाय तो उससे बड़े बड़े मदोन्मत्त हाथी बांधे जा सकते हैं। इस लोकप्रसिद्ध उदाहरण को कौन गलत साबित कर सकता है? इसी प्रकार बिखरे व्यक्तियों के बिखरे हुए बल को अगर एकत्र करके संघबल के रूप में परिणत कर दिया जाय तो असंभव प्रतीत होने वाला कार्य भी सरलता के साथ सम्पन्न किया जा सकता है, इस बात को भी कौन गलत साबित कर सकता है? संघशक्ति क्या नहीं कर सकती? जब निर्जीव समझी जाने वाली वस्तुओं का संगठन

अद्भुत काम कर दिखलाता है तो विवेकबुद्धि धारण करने वाले मानव-समाज की संघशक्ति का पूछना ही क्या ?

मानवता के विकास के लिए संघशासन का होना आवश्यक है। भगवान महावीर ने जगत् के कल्याण के लिए संघशासन का जबर्दस्त काम हाथ में लिया था। उस समय संघशासन शिथिल पड़ गया था। ब्राह्मणों और बौद्धों में संघशासन संबंधी बहुत त्रुटि थी। कोई स्त्री और शूद्र को अपने शासन में सम्मिलित नहीं करता था, किसी में और प्रकार की अपूर्णता थी। इतना ही नहीं उस समय शूद्रों को धर्मकृत्य करने का भी अधिकार नहीं था। तत्कालीन एकांगी संघयोजना से मानवजाति का विकास कुंठित हो गया था। यह देखकर भगवान् महावीर ने संघयोजना को व्यवस्थित रूप दिया। मानवता की दृष्टि से, समस्त मानवजाति को संघयोजना में समान अधिकार मिला। यही नहीं, स्त्री और शूद्र जाति की उस समय अवगणना की जाती थी, पर भगवान् ने उन्हें ज्ञान और चारित्र का अधिकारी मानकर संघशासन में समान अधिकार दिया। भगवान् महावीर के समान सुन्दर संघयोजना का परिचय किसी भी संघसंस्थापक ने नहीं दिया। भगवान् महावीर की संघयोजना से सम्पूर्ण आर्यावर्त्त का इतिहास समुज्ज्वल है। भगवान महावीर का जिनशासन, जो अब तक व्यवस्थित रूप से चल रहा है, सो उनके द्वारा प्ररूपित की बदौलत ही। संघधर्म का ध्येय व्यक्ति के श्रेय के साथ समष्टि के श्रेय का साधन करना है। जब समष्टि के श्रेय के लिए व्यक्ति का श्रेय खतरे में पड़ जाता है तब समष्टि के श्रेय का साधन करना संघधर्म का ध्येय बन जाता है। संघधर्म को व्यवस्थित रखने का उत्तरदायित्व संघ के प्रत्येक सभ्य पर रहता है।

संक्षेप में संघ का धर्म है—संघ के प्रत्येक सदस्य का सम्यक् पालन करना। संघधर्म मुख्य रूप से दो विभागों में बँटा हुआ है—(१) लौकिक संघधर्म और (२) लोकोत्तर संघधर्म। लौकिक संघधर्म के सभ्य (श्रावक और श्राविका) लौकिक संघशासन का भार जवाबदारी के साथ चलाते हैं और लोकोत्तर संघधर्म के सभ्य (साधु और साध्वी) लोकोत्तर संघशासन का, भार जवाबदेही के साथ करते हैं।

लौकिक संघधर्म क्या है और उसके सभ्यों का काम क्या है? इस प्रसंग में यहाँ संक्षिप्त विचार किया जायगा। लौकिक संघधर्म के संबन्ध में शास्त्रकार का कथन है—

'संघधम्मो—गोष्ठीसमाचारः'

अर्थात्—संघ या सभा के नियमोपनियम।

जाहिर समाचार, जाहिर सभा तथा संस्था जिसमें सर्व साधारण का अधिकार है और जहाँ सर्वसाधारण की सुख-सुविधा का विचार किया जाता है, आदि समस्त अंगों का लौकिक संघधर्म में समावेश हो जाता है।

जो जैनधर्म ऐसी सुन्दर संघयोजना को स्वीकार करता है वह आज लोगों की दृष्टि में इतना अपूर्ण और अव्यवहार्य क्यों दिखाई पड़ता है? कई लोग इस प्रकार का प्रश्न करते हैं। वास्तव में यह प्रश्न बहुत ही विचारणीय है। जैनधर्म को अपूर्ण या अव्यवहार्य कह कर लांछित करने में कुछ अपराध तो उन लोगों का है जो जैनधर्म के वास्तविक मर्म को समझे बिना ही केवल मताग्रह से प्रेरित होकर अथवा बाहर के दूषित

वातावरण के ही कारण, उसे लाञ्छन लगाने में प्रवृत्त होते हैं। और प्रधान अपराधी वे जैन भाई स्वयं हैं जो कायरता धारण करके महावीर-धर्म को लजाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि जैनधर्म अपने उदार, उन्नत और सार्व सिद्धांतों के कारण विश्वधर्म बनने के योग्य है।

सार्वजनिक सभाओं तथा संस्थाओं में समस्त संघ अर्थात् सम्पूर्ण मानवजाति के हित और श्रेय का विचार किया जाता है। जिस धर्म में हिन्दू, मुसलमान या ऐसे ही किसी एक ही वर्ग, समाज या जाति के हित का विचार किया जाता है उसे कुलधर्म भले ही कहा जा सके, परन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र का संघधर्म नहीं कहा जा सकता। क्योंकि राष्ट्र का संघधर्म व्यक्तिगत या वर्गगत हित की अपेक्षा समष्टि के हित का सर्वप्रथम विचार करता है।

राष्ट्र का संघधर्म ठीक अखिल भारतीय संघ (National Congress) सरीखा है। संघधर्म के अनुसार जिस संस्था या सभा की स्थापना की जाती है उसमें समष्टि के हित के विरुद्ध, व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष के हित का विचार नहीं किया जाता। समष्टि के हित को विपत्ति में डालकर व्यक्ति या वर्ग के हित का विचार करना संघधर्म की जड़ उखाड़ना है।

जिस प्रणाली से समष्टि का श्रेय और हित सुरक्षित होता हो उसी का आश्रय लेना चाहिये। इसी में संघधर्म की महत्ता और शोभा है।

उदाहरणार्थ—मान लीजिए, अखिल भारतीय संघ (All India National Congress.) ने भारत में विदेशी वस्त्रों के त्याग

का निश्चय किया। निस्संदेह इस निश्चय से विदेशी वस्त्रों का व्यापार करने वालों को आर्थिक हानि होती है। फिर भी अगर इस निश्चय से भारतवर्ष के करोड़ों गरीब भाइयों को खाने के लिए अन्न और पहनने के लिए वस्त्र मिलता हो तो यह प्रस्ताव धर्म रूप में अवश्य परिगणित होना चाहिए।

ऐसा करने से ही संघधर्म का पालन होता है। इसके विपरीत उक्त निश्चय की परवाह न करते हुए, भारत के गरीब भाइयों के जीवनरक्षण का विचार तक न करना संघधर्म का अपमान है। ऐसा करने से संघधर्म का विनाश होता है। ऐसी स्थिति में अगर कोई व्यापारी राष्ट्रधर्म या ग्रामधर्म के पोषक प्रस्ताव की मुलाहज़ा करके छल-कपट से विदेशी वस्त्र का व्यापार करता है तो वह स्पष्ट रूप से राष्ट्रधर्म एवं संघधर्म का अपमान करता है। निष्कपट भाव से संघधर्म का पालन करने से संघ को अत्यधिक लाभ पहुँचने की संभावना है। बुद्धिमान पुरुष अपने निजी स्वार्थ की सिद्धि के लिए समाज का अहित नहीं चाहता। जिस संघ के सदस्य इतने उदार रहते हैं वह संघ सर्वेव समुन्नत रहता है।

मान लीजिए, किसी गांव के निवासियों ने एकत्र होकर राजा से प्रार्थना की—'गायों को चराने के लिए स्थान नहीं है। अतएव गोचर भूमि के लिए बिना महसूल लिए एक स्थान की व्यवस्था कर दीजिए। प्रजा की यह मांग राजा ने स्वीकार करली। तो इससे होने वाला लाभ प्रजासंघ के प्रत्येक सभ्य को प्राप्त होगा। मगर अगर कोई स्वार्थी मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए या अपनी प्रसिद्धि के लिए राजा को बहकाकर गोचर-भूमि देने में

बाधा खड़ी करता है और प्रजासंघ की हितबुद्धि को पार नहीं पड़ने देता तो वह स्वार्थी मनुष्य संघधर्म का नाशक समझना चाहिए।

प्रजासंघ के हित का विचार न करके, केवल स्वार्थवृत्ति तृप्त करने के लिए राजा का पक्ष लेना और हजारों गरीबों के जले पर नमक छिड़कना एक साधारण गृहस्थ के लिए भी अनुचित है तो बारह व्रतधारी श्रावक ऐसा कुकृत्य कैसे कर सकता है ?

कुछ लोग संघधर्म के संगठन को तथा संघधर्म के लिए किये जाने वाले कार्यों को एकान्त पाप बतलाते हैं। पर जिस संघ-धर्म के पालन से मानवसमाज नीच कर्मों का त्याग करता है और जिन पाप कर्मों के त्याग से संसार का उत्थान होता है और साथ ही श्रुत-चारित्रधर्म के पालन के लिए क्षेत्र तैयार होता है, उस संघधर्म को एकान्त पाप कहना उचित नहीं कहा जा सकता है।

संघधर्म के पालन में आरम्भ समारम्भ होता है और उसे आरंभ समारंभ मानना भी चाहिए, परन्तु इस प्रकार का आरंभ समारंभ भी विशेष प्रकार का होता है। एक आदमी अपनी पुत्री का विवाह करता है और दूसरा अपनी माता का विवाह करता है। दोनों में विवाह का ठाट-बाट सरीखा है, फिर भी क्या दोनों विवाह एक सरीखे कहे जा सकते हैं ? कदापि नहीं।

दोनों विवाहों में खर्च बराबर होने पर भी क्या दोनों विवाह बराबरी के गिने जाएँगे ? अगर कोई आदमी आरंभ समारंभ की दृष्टि से दोनों विवाहों को एक समान माने तो ? उसकी मान्यता गलत होगी।

यही बात आरम्भ समारम्भ के विषय में समझनी चाहिए। कुछ काम ऐसे होते हैं जिनके करने से वास्तविक शान्ति होती है और साथ ही अनेक महान् पापों का प्रतिकार भी होता है, और कुछ काम ऐसे हैं जिनके करने से आरम्भ समारम्भ के पाप के साथ ही साथ अन्य अनेक महान् पापों को उत्तेजना मिलती है।

यह सब जानते-बूझते भी जो त्याग करने योग्य कार्यों को पाप रूप समझकर त्याग देते हैं वे अपनी अवनति के साथ २ पापों की भी वृद्धि करते हैं। करने योग्य कार्यों को एकान्त पाप कह कर लोग त्याग न दें और अवनति के मार्ग पर अग्रसर होकर पापों की वृद्धि न करें, इस महान् उद्देश्य को लेकर भी संघधर्म की स्थापना की गई है।

संघ का अर्थ है—व्यक्तियों का समूह। यह समूह व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि देकर समष्टि के हित और श्रेय के लिए जो नियमोपनियम बनाते और उनका भलीभाँति पालन करते हैं वही नियमोपनियम संघधर्म कहलाते हैं।

संघधर्म को जीवन में उतारने के लिए संघ के प्रत्येक सदस्य को जवाबदेही के साथ संघ के नियमोपनियमों का पालन करना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी जवाबदेही भुला देता है और स्वार्थवश संघधर्म को भंग करता है वह संघधर्म का नाशक है

जो संघ का श्रेय-साधन करता है, संघ उसका श्रेय-साधन करता है। यह समझना प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। संघ समाज की प्रतिनिधि संस्था है। इस संस्था के सम्मान में ही अपना सम्मान है। इस परिस्थिति में जो

परिचित है वह व्यक्ति संघधर्म को उन्नत बना सकता है और उसकी उन्नति के द्वारा ही अपनी उन्नति कर सकता है।

लोकव्यवहार किस प्रकार चलाना चाहिए और उसे चलाने के लिए किस प्रकार का सामूहिक तन्त्र गढ़ना चाहिए, इन बातों का सुन्दर परिचय लौकिक संघधर्म कराता है। श्रावक और श्राविकाएं अगर लौकिक संघधर्म की महत्ता को बराबर समझ लें और सामूहिक तन्त्र के नियमों के अनुसार अपना जीवनव्यवहार चलावें तो आज फिर लौकिक संघधर्म चमक उठेगा। लौकिक संघधर्म का बराबर पालन किया जायगा तो लोकोत्तर संघधर्म भी व्यवस्थित रूप में चलेगा, इसमें जरा भी संदेह नहीं। कारण यह है कि यद्यपि लौकिक संघधर्म और लोकोत्तर संघधर्म के नियम भिन्न हैं फिर भी दोनों संघधर्म धार्मिक संबंध में एक दूसरे से खूब जकड़े हुए हैं। इन दोनों को एकान्त भिन्न नहीं माना जा सकता है।

यहां तक लौकिक संघधर्म के सदस्यों के कर्त्तव्य का विचार किया गया है। अब लोकोत्तर संघधर्म क्या है और उसके सदस्यों का कर्तव्य क्या है, इस विषय पर विचार करना आवश्यक है।

जिस धर्म के पालन से साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध श्री संघ की उन्नति हो वह लोकोत्तर संघ का धर्म है। लोकोत्तर संघधर्म में भी व्यक्तिगत लाभ का विचार करते हुए समष्टिगत लाभ का दृष्टिकोण ही सामने रखना चाहिए।

कोई यह शंका कर सकता है कि श्रुत-चारित्रधर्म में ही संघ-धर्म का समावेश हो जाता है तो फिर उसका अलग वर्णन करने की

क्या आवश्यकता है ? यह कथन निराधार है क्योंकि श्रुतधर्म और चारित्रधर्म अलग अलग हैं और संघधर्म इन दोनों से भी अलग धर्म है। संघधर्म में संघ के गृहस्थ और त्यागी दोनों प्रकार के सदस्यों का कर्त्तव्य निर्धारित बतलाया गया है। अगर इन दोनों का कर्त्तव्य जुदा जुदा न बताया जाय तो संघ का अस्तित्व अधिक समय तक टिक नहीं सकता। इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए—

एक मनुष्य वस्त्रों का व्यवसाय करता है और दूसरा जवाहरात का। लौकिक संघधर्म के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो दोनों व्यवसायी समान हैं; फिर भी वे दोनों एक दूसरे का काम करने में असमर्थ हैं। जौहरी बजाज का और बजाज जौहरी का काम सफलतापूर्वक नहीं चला सकता। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि दोनों ही दुकानें बहुत समय तक चालू नहीं रह सकेंगी।

इसी प्रकार गृहस्थ और साधुओं को मिलाकर एक संघ बनता है। जब समस्त संघ का प्रश्न उपस्थित होता है तो सभी की गणना समान रूप में की जाती है। किन्तु जैसे बजाज, जौहरी का और जौहरी बजाज का उत्तरदायित्व नहीं संभाल सकता उसी तरह साधु, श्रावक की और श्रावक, साधु की जवाबदेही नहीं निभा सकते।

अगर साधुओं की जवाबदेही श्रावकों पर डाली जाय तो यह संघ नष्ट हुए बिना न रहेगा। बालक को स्तनपान कराके ही जीवित रखा जा सकता है, मगर कोई साध्वी बालक को स्तनपान कराये तो क्या संगत होगा ? नहीं। ऐसा करने से शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार दोष होगा।

लेकिन अगर कोई माता श्राविका यह सोचकर कि साध्वी को स्तनपान कराने में दोष लगता है अतएव मैं भी बालक को दूध न पिलाऊँगी, बालक को दूध न पिलावे तो क्या यह धर्म होगा? लोग उसे क्या कहेंगे? निर्दयी।

शास्त्रों में श्रावकों के लिए पहले अहिंसाव्रत के पाँच अतिचार बतलाये गये हैं। उनमें एक अतिचार 'अन्नपान का निरोध'* करना भी है। इससे विपरीत साधु यदि किसी जानवर या मनुष्य को अन्न-पानी दे तो उसे अतिचार लगता है। इसी प्रकार श्रावक अगर अन्न-पानी न दे तो उसे दोष लगता है। ऐसी स्थिति में अगर साधुओं के कर्त्तव्य श्रावक को लागू किये जाएँ तो श्रावकधर्म का पालन किस प्रकार हो सकेगा?

कुछ लोगों का कथन है कि 'जो काम साधु कर सकता है वह धर्म है और जिस काम का साधु के लिए निषेध है वह सब पाप है। इस समझ के कारण श्रावक-समाज में गलतफहमी फैल गई है। उन्होंने अपनी प्रखर बुद्धि से सम्पूर्ण शास्त्र को इसी विधान में निचोड़ कर भर दिया जान पड़ता है। पर वे इस बात का विचार तक नहीं करते कि प्रत्येक को अपनी अपनी जवाबदेही समझाये बिना संघधर्म को कितनी अधिक हानि पहुँचने की सम्भावना है? उन्हें विचार करना चाहिए कि जो काम सिर्फ

*देखो प्रतिक्रमण सूत्र—पहले व्रत के पाँच अतिचारों में 'भत्तपाण वुच्छेए' (भक्तपानव्युच्छेद) अर्थात् अन्न-पानी भोगने में रुकावट डालना पाँचवां अतिचार है।

देखो वाचक उमास्वातिजी का तत्त्वार्थाधिगमसूत्र—'बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः।' अध्याय ७ वां।

साधुओं के लिए ही निश्चित किये गये हैं, उन्हें करने में श्रावक-गण किस प्रकार पालन किया जा सकता है ?

जब एक साधारण घर में भी प्रत्येक आदमी का काम अलग रहता है तो फिर इतने बड़े संघ का काम, कार्यप्रणाली को विभाजित किये बिना किस प्रकार चल सकता है ?

मान लीजिए एक साहूकार के घर में चार पुत्रवधुएं हैं। उनमें एक पुत्रवती है, दूसरी गर्भवती है, तीसरी बांझ है और चौथी नवविवाहिता है।

अगर सासू इन चार बहुओं के खान-पान, रहन-सहन और कामकाज की व्यवस्था अलग अलग न करके चारों को एक ही प्रकार से रक्खे तो क्या परिणाम आयगा ? हानि ही होगी।

साधुओं में भी कोई जिनकल्पी होता है कोई स्थविरकल्पी। कोई रोगी होता है कोई तपस्वी होता है। अगर सूक्ष्म दृष्टि से इसका विचार न किया जाय तो सबका निर्वाह भलीभांति कैसे हो सकता है ?

जब साधुओं में भी आन्तरिक भेद के अनुसार जुदा-जुदा कल्प निर्धारित किया जाता है तो फिर साधु और श्रावक का निर्वाह एक ही धर्म का पालन करने से किस प्रकार हो सकता है ?

साधुओं की आवश्यकताएँ बहुत कम होती हैं जबकि श्रावकों की आवश्यकताएं अधिक होती हैं।

अगर साधु और श्रावक की भिन्न-भिन्न मर्यादाएँ न स्वीकार की जाएं तो श्रावक और साधु बनने की आवश्यकता ही क्या

है ? श्रावक इस लिए तो साधु बनते हैं कि गृहस्थावस्था में होने वाले आरम्भ समारम्भ से बच सकें और अपनी आवश्यकताएँ कम से कम बना लें।

अगर श्रावक और साधु का धर्म एक हो तो श्रावकधर्म और साधुधर्म में भिन्नता ही क्या रही ? श्रावक और साधु की बात जाने दीजिए, श्रावक-श्रावक का धर्म भी जुदा-जुदा ही होता है। उदाहरणार्थ-एक श्रावक घर में अकेला है, वह पाँच सात रुपये में ही अपना निर्वाह कर लेता है। दूसरा श्रावक एक राजा है। उसका कुटुम्ब परिवार भी बड़ा है। ऐसी स्थिति में पहला श्रावक अगर विचार करे कि मैं जो करता हूँ वही श्रावकधर्म है। अर्थात् पाँच-सात रुपया मासिक व्यय में ही काम चलाना चाहिए। जो इससे अधिक व्यय करता है, अथवा जो मुझ से अधिक आरम्भ समारम्भ करता है, वह श्रावकधर्म का पालन नहीं करता।' तो क्या राजा बारह व्रतधारी श्रावक कहला सकेगा ? नहीं।

शास्त्र में प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति के लिए जुदा-जुदा धर्म निश्चित किया गया है। एक व्यक्ति सोलह देशों का राजा होने पर भी बारह व्रतधारी श्रेष्ठ श्रावक बन सकता है। इस शास्त्रसम्मत और नीतियुक्त बात से विरुद्ध कथन करना संघधर्म के लिए हानिकारक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि साधुओं का आचारधर्म और श्रावकों का आचारधर्म भिन्न-भिन्न है। जो लोग दोनों के आचारधर्म को एक बतलाते हैं वे भूल करते हैं। उनकी भूल के कारण आजकल संघधर्म चक्कर में पड़ गया है। संघ की समुचित व्यवस्था न होने से साधु अपनी जवाबदेही श्रावकों पर और श्रावक अपनी जवाबदेही साधुओं पर डाल रहे हैं। जैसे पाठशाला

का संचालन करना, संस्था खोलना, किसी छात्रालय की सक्रिय व्यवस्था करना, गोरक्षा तथा अनाथालयों की सक्रिय व्यवस्था करना इत्यादि कार्य दया और परोपकार के कार्य हैं, परन्तु साधु जब ऐसे व्यावहारिक प्रपंच में पड़ते हैं तो उनकी आत्मसाधना में विघ्न पड़ता है।

साधु परोपकार न करें तो परोपकार कौन करेगा ? इस सम्बन्ध में यही कहना पर्याप्त है कि ऐसे परोपकार के कार्य जिनमें आरम्भ आदि क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, अगर साधु करेंगे तो श्रावक क्या करेंगे ? प्रत्येक को अपनी मर्यादा में रहकर ही कार्य करना चाहिए। यही शास्त्रीय विधान है।

अगर श्रावकों का कार्य भी साधु अपने सिर ओढ़ लेंगे तो साधुओं के महाव्रतों का पालन क्या श्रावक करेंगे ? अगर श्रावकों का काम साधु अपने हाथों में न लें तो श्रावक तो महाव्रत पालने में असमर्थ हैं ही, साधु भी महाव्रत न पाल सकेंगे। नतीजा यह होगा कि महाव्रतों का लोप होने लगेगा।

साधुओं को पैसे के प्रपंच में पड़ना उचित नहीं है। 'अमुक संस्था को एक हजार रुपये दे दो' अथवा परोक्ष रूप में 'पैसे की ममता त्यागो, इस संस्था के लिए पुद्गलों का त्याग करो' इत्यादि प्रकार से कहना योग्य नहीं है। कदाचित् रुपये की अव्यवस्था के कारण अपव्यय हो तो साधु पर विश्वासघात का दोष आता है। अतएव आत्मसाधक साधु पैसे के प्रपंच में नहीं पड़ सकता।

वर्त्तमान काल में अनेक संस्थाओं में अव्यवस्था देखी जाती

है। स्वार्थत्यागी योग्य आदमियों की कद्र नहीं रही और जो चाहता है वही संस्था की स्थापना करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार नई नई संस्थाएँ स्थापित करने वालों की परीक्षा किये बिना जो श्रावक उन्हें नियम विरुद्ध सहयोग देते हैं वे साधुत्व के ह्रास में सहायता देते हैं।

जो काम श्रावकों को करने योग्य हैं उन्हें श्रावक करें और जो साधुओं को करने योग्य हैं उन्हें साधु करें, इसी में सब की सुव्यवस्था रहती है। जिन कार्यों में थोड़ा आरम्भ और अधिक उपकार होता है, ऐसे कार्य श्रावक सदा से करते आये हैं। केशी स्वामी ने चित्तप्रधान से कहा था—'परदेशी राजा मेरे सामने ही नहीं आता तो मैं उसे उपदेश कैसे दूँ ?' इस कथन से यह प्रतीत होता है कि राजा परदेशी को केशी महाराज के पास लाना श्रावकों का कर्त्तव्य था, साधुओं का नहीं। यह कर्त्तव्य साधुओं का होता तो केशी महाराज किसी साधु को भेज कर उसे बुला लेते। परन्तु परदेशी राजा को चित्त प्रधान लाया था। तात्पर्य यह है कि साधु, साधुओं के योग्य और श्रावक श्रावकों के योग्य कर्त्तव्य करते आये हैं। मेरा आशय यह नहीं है कि संस्थाएँ स्थापित न की जाएँ। मेरा उद्देश्य इतना ही है कि साधु व्यावहारिक प्रपंचों में न पड़े और अपने साधु-धर्म का ही तत्परता के साथ पालन करें।

श्रावकों को उपदेश देना साधुओं का कर्त्तव्य है। केशी श्रमण ने राजा परदेशी को श्रावक बनाने के बाद उपदेश दिया था कि—हे राजा ! तुम रमणीक से अरमणीक न होना। यह उपदेश सुनकर राजा ने स्वयं राज्य के चार भाग करके, एक भाग दान देना आरम्भ किया। केशी श्रमण ने राजा को यह नहीं कहा था कि 'तुम इस प्रकार करो।' उपदेश देने से श्रावक स्वयं अपना कर्त्तव्य समझ ले तो

साधुओं को प्रेरणा या आग्रह करने की क्या आवश्यकता है ? जितनी श्रद्धा होगी, जिनमें शक्ति होगी, वे स्वयं सब बातें समझेंगे और दूसरे का उपकार करने में प्रवृत्त होंगे। साधु किसी का संस्था का काज-काम में भाग लेना उचित नहीं है।

कोई साधु कदाचित् यह कहे कि श्रावक अव्यवस्था करते तथा संस्था चलाने में असमर्थ हैं, ऐसी हालत में अगर हम संस्था का संचालन न करें तो काम कैसे चल सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर में मैं कहता हूँ कि अगर उन्हें इसी में संघ का कल्याण दिखाई देता है तो वे साधुपन छोड़कर श्रावक बन कर यह काम कर सकते हैं।

साधुओं का अध्ययन करने की आवश्यकता है। अगर साधु उच्च श्रेणी की शिक्षा न लें तो ज्ञान दर्शन और चारित्र का पूर्ण रूप से महत्त्व न समझ सकेंगे और शुद्ध व्याख्यान करना भी उनके लिए कठिन हो जायगा। इससे धर्म की हानि होने की संभावना है। आजकल वर्त्तमान परिस्थिति में बड़ा परिवर्त्तन हो रहे हैं उसमें भी हमें अपने संघ को टिकाये रखना है। अतएव साधुओं को समस्त शास्त्रों में निपुण बनाकर जैनधर्म की प्रखर ज्योति फैलाना आवश्यक है। 'पवयणं नायगं सव्वो' इत्यादि भगवान् महावीर का यह संदेश सर्वत्र फैलाना अत्यावश्यक है।

अगर कोई साधु शास्त्र में पारंगत होने के बाद सम्प्रदाय के बंधनों को शिथिल मैं बाधक समझ कर सम्प्रदाय से जुदा हो जाय और अपनी स्वेच्छा से कार्य करने लगे और आचार्य भी उसे अविनीत जान कर छोड़ दें फिर भी अगर श्रावक उसकी सहायता करते रहें और सम्प्रदाय की मर्यादा को स्वीकार न

करने पर भी उसे पूजते रहेंगे तो क्या वह साधु अपने आचार्य की परवाह करेगा ? जिस साधु को आज्ञा से बाहर कर दिया गया है उसे तुम लोग पूजते रहो तो यह आचार्यपद का मूलोच्छेद करने के समान है या नहीं ?

अगर तुम्हें ऐसा ही कार्य करना है तो तुम्हारी मर्जी इतना याद रखना कि आज्ञा से बाहर (बहिष्कृत) किये हुए साधु की सहायता करना सघधर्म पर कुठाराघात करने के समान है।

अगर तुम बहिष्कृत शिष्य की सहायता करते रहोगे तो एक दिन सब स्वतत्र होकर कहने लगेंगे—'साम्प्रदायिक बधनों की आवश्यकता नहीं है।' इस स्थति में कौन शिष्य आचार्य की आज्ञा में रहना पसद करेगा ?

साम्प्रदायिक बधनों की आवश्यकता स्वीकार न करना सघधर्म सबधी अज्ञान को प्रकट करता है। अगर श्रावक भलीभांति विचार करके इस विषय में योग्य व्यवस्था न करेंगे तो साधु स्वच्छन्दाचारी बन जाएँगे। एक प्रकार की अव्यवस्था और विशृंखलता फैल जाने से धर्म का और आचार्यपद का महत्व नहीं रहेगा। ऐसी हालत में सघ का काम कैसे चल सकेगा ? इस बात पर तुम्हें सावधानी के साथ विचार करना चाहिए।

राष्ट्रीय महासभा में स्वीकृत निर्णय सम्पूर्ण भारतवर्ष का निर्णय है। अगर कोई मनुष्य उस निर्णय का अपमान करता है तो वह सभा का अपमान है।

महासभा के प्रस्तावों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इस संघधर्म की आवश्यकता स्वीकार न करके अगर हरएक आदमी अपनी मनमानी करने लगे तो राष्ट्रधर्म और संघधर्म का अस्तित्व अधिक समय तक नहीं बना रह सकता। ठीक यही बात लोकोत्तर संघधर्म के विषय में भी समझनी चाहिए। जो व्यक्ति संघधर्म के विरुद्ध अपनी व्यक्तिगत स्वच्छन्दता पोषता फिरता है वह संघधर्म का अपमान करता है।

श्रुत-चारित्रधर्म प्रत्येक व्यक्ति का जुदा-जुदा धर्म है, परन्तु संघधर्म सब का सामूहिक धर्म है। अतएव संघधर्म के ऊपर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। संघधर्म के अभाव में चारित्रधर्म अधिक समय तक नहीं टिक सकता। हरएक आदमी अपनी-अपनी सम्पत्ति की रक्षा तो करता ही है, पर साथ ही उसे गाँव की रक्षा करने की ओर भी ध्यान देना पड़ता है, क्योंकि गाँव लुटने पर उसकी अपनी सम्पत्ति भी सुरक्षित नहीं रह सकती। यही बात श्रुत-चारित्रधर्म और संघधर्म के संबंध में है। श्रुत-चारित्रधर्म एक व्यक्ति की संपत्ति के समान है और संघधर्म समूचे गाँव की संपत्ति के समान है।

अगर समूचे गाँव की सम्पत्ति लुट जाए तो एक मनुष्य अपनी सम्पत्ति किस प्रकार सुरक्षित रख सकता है? इसी प्रकार जो मनुष्य अपने व्यक्तिगत धर्म की रक्षा चाहते हैं संघधर्म की रक्षा की तरफ भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

संघधर्म का महत्त्व इतना अधिक बतलाया गया है कि अगर कोई साधु विशिष्ट अभिग्रह आदि चारित्रधर्म की साधना में तल्लीन हो रहा हो और उस समय संघ को अनिवार्य आवश्यकता पड़ जाय तो साधु को अपनी साधना त्याग करके भी संघ का कार्य पहले करना चाहिए। यह शास्त्र का आदेश है। यह बात भद्रबाहु स्वामी की कथा से अधिक स्पष्ट हो जायगी।

एक बार भद्रबाहु स्वामी एकान्त में योग की साधना कर रहे थे। उस समय संघ में विग्रह होगया। जब तक कोई तेजस्वी और प्रतिभाशाली पुरुष उसका निपटारा न करदे तब तक विग्रह शांत होना असंभव-सा प्रतीत होता था। आखिर संघ एकत्र हुआ। संघ ने निश्चय किया कि भद्रबाहु स्वामी के सिवाय दूसरा कोई इस विग्रह को शान्त नहीं कर सकता। उन्हें बुलाने के लिए कोई साधु जावे और यहां आकर भद्रबाहु स्वामी निपटारा करें।

साधु भद्रबाहु स्वामी के पास पहुंचे। उन्होंने संघ का आदेश कह सुनाया। सब बात सुनकर स्वामी ने उत्तर दिया—'मैं इस समय योग की साधना में तल्लीन हूं। योग-साधना के पश्चात् यहां आऊंगा।'

भद्रबाहु स्वामी का उत्तर साधुओं ने आकर संघ को सुना दिया। उत्तर सुन कर संघ चकित रह गया कि आचार्य ने अपने कल्याण के लिए समस्त संघ की उपेक्षा क्यों की? पूर्वोक्त

विचार करने के बाद संघ ने उन्हें बुलाने के लिए दो साधु भेजे। साधुओं ने संघ के कथनानुसार निवेदन किया—

'महाराज ! योग-साधना करके आपको अकेले अपना कल्याण करना श्रेष्ठ है या समस्त संघ में फैले हुए विग्रह को शांत करना श्रेष्ठ है ? दोनों में अधिक श्रेष्ठ क्या है ?

संघ का यह प्रश्न सुनकर भद्रबाहु स्वामी अपना अभिग्रह अधूरा छोड़कर संघ के पास आये और श्रीसंघ से क्षमायाचना करके कहने लगे—'मेरी योग-साधना की अपेक्षा संघ का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण है।' यह कहकर उन्होंने संघ को सान्त्वना दी।'

कई लोग कहा करते हैं—हमें इससे क्या ! हमें दूसरों की चिन्ता करने से क्या मतलब ? हम चैन से रहें तो बस है। दूसरों का जो होनहार है सो होगा ही। उससे हमें क्या लेना-देना ?' ऐसे विचार वाले लोग भयंकर भूल करते हैं। जिस ग्राम में या जिस देश में ऐसे विचार वाले लोग रहते हैं उस ग्राम या देश का अध:पतन हुए बिना नहीं रह सकता। जब से भारतवासियों के दिल में इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए तभी से भारतवर्ष का अध:पतन आरम्भ हुआ। अब भारत में यह शुद्ध भावना बढ़ती दिखाई पड़ रही है और समग्र राष्ट्र संगठित होकर राष्ट्रोद्धार करने में तत्पर हो गया है। अब यह आशा की जाती है कि भारतवर्ष की दशा कभी न कभी अवश्य सुधरेगी।

प हमें इससे क्या वाली क्षुद्र भावना जैनसंघ में से अभी

तक दूर नहीं हुई। और इस भावना को नेस्तनाबूद करने के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं किया जा रहा है, यह अधिक दुख की बात है। संघधर्म का महत्व न समझने के कारण ही जैनसंघ में यह दूषित भावना घुस गई है।

भगवान् का कथन है कि सहधर्मियों को किसी भी प्रकार की शान्ति पहुंचाने से निर्जरा होती है। इस समय संघधर्म की रक्षा करने की परमावश्यकता है।

भद्रबाहु स्वामी संघ के हित को लक्ष्य में रख कर संघ के पास आये थे। और संघ का हित साधन किया था। धर्म की रक्षा करना अपनी रक्षा करने के बराबर है। मनुजी ने ठीक ही कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

अर्थात्—जो मनुष्य धर्म का नाश करता है धर्म उसका नाश करता है। और जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है। धर्म हमारा नाश न करे, इसलिए हमें धर्म का नाश नहीं करना चाहिये।

संघ आज अव्यवस्थित हो गया है। उसका संगठन करना इस समय अत्यन्त आवश्यक है। मगर अभी तक जितना चाहिए उतना ध्यान नहीं दिया रहा है। संघबल एकत्र करने में कितना

उपसंहार

इस प्रकार लौकिक और लोकोत्तर संघधर्म का बराबर पालन हो तो संघबल मजबूत हो सकता है। और संघबल से देश, समाज और धर्म में ऐसी क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि जिससे संघशक्ति का उत्तरोत्तर विकास होता रहे।

संघबल प्रकट करो और उससे विकार-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करो। संघबल जैसे सांसारिक कामों की सिद्धि के लिए आवश्यक है उसी प्रकार आध्यात्मिक सिद्धि के लिए भी संघबल की अनिवार्य आवश्यकता है। अपने पूर्वाचार्यों ने तो संघ को भगवान् मानकर उसकी स्तुति की है और 'नमो संघस्स' कहकर संघशक्ति को नमस्कार किया है।

संघशक्ति लोकशक्ति है और लोकशक्ति धर्म की माता है। जो लोग संघबल का वास्तविक महत्व समझते हैं वे संघ को 'अम्मापिया' अर्थात् माता पिता के समान पूज्य गिनकर उसकी पूजा करते हैं। संघपूजा सच्ची धर्मपूजा है।

संघ अपना धर्मप्राण है। संघबल अपना धर्मबल है। संघ-शक्ति अपनी धर्मशक्ति है। अतएव धर्मप्राण की रक्षा के लिए जीवन में संघबल प्रकट होगा तब संघधर्म, विश्वधर्म में अपना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा।

नमो संघस्स

संघ को नमस्कार हो

शुद्ध होती है, क्रोध आदि कषाय मंद होते हैं और संयम तथा समभाव का पोषण होता है, उसी को सम्यग्ज्ञान माना है।

'पढमं नाणं तओ दया'—पहले ज्ञान फिर दया-चारित्र और 'ज्ञानक्रियाभ्याम मोक्ष' अर्थात् ज्ञान और चारित्र द्वारा ही मुक्ति-लाभ होता है। यह धर्मशास्त्रों की घोषणाएं भी इसी प्रकार के सम्यग्ज्ञान को सूचित करती हैं।

ज्ञान और क्रिया का साहचर्य श्रेयसिद्धि का मुख्य कारण है। जैसा समझो वैसा ही करो, तभी ध्येय सिद्ध हो सकता है। जानना जुदा और करना जुदा, इस प्रकार जहाँ विसंवाद होता है वहाँ बड़े से बड़ा प्रयास करने पर भी विफलता ही मिलती है। 'ज्ञानं वन्ध्यं क्रियां विना' अर्थात् क्रिया के बिना ज्ञान निष्फल है और ज्ञानहीन क्रिया अन्धी है। यह धर्मोक्ति भी ऐसे ही विसंवादी ज्ञान और क्रिया के लिए कही गई है। अतएव ज्ञान और क्रिया का जहां संवाद होता है वहां ध्येयसिद्धि समीप ही रहती है।

सम्यग्ज्ञान शाश्वत सूर्य है, कभी न बुझने वाला दीपक है। उसके चमकते हुए प्रकाश से मात्सर्य, ईर्षा, क्रूरता, लुब्धता आदि अनेक रूपों में फैला हुआ अज्ञान-अन्धकार एक क्षण भी नहीं टिक सकता है।

क्रियाकांड—अनुष्ठान औषध है और सम्यग्ज्ञान पथ्य है। सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से अनुष्ठान अमृत रूप बनकर आत्मा का

कहा है—

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।'

'सम्मत्तदंसी न करेइ पावं' अर्थात् सम्यग्ज्ञानी जीव पापकर्म नहीं करता । यह धर्मवाक्य भी सम्यग्ज्ञान की महिमा प्रकट करता है ।

मोक्ष-धर्म रूप रथ के सूत्र और चारित्र दो चक्र हैं । इस प्रकार सूत्र और चारित्र अथवा ज्ञान और क्रिया परस्पर सापेक्ष हैं । इनमें से किसी एक की उपेक्षा करने से धर्म-रथ आगे नहीं चल सकता ।

जैसे अनुष्ठानहीन कोरे ज्ञान से आत्मशुद्धि नहीं हो सकती उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानहीन चारित्र भी मोक्षसाधक नहीं हो सकता । सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, दोनों को जीवन में सरीखा स्थान देने से ही आत्मा शुद्ध और मुक्त बन सकता है ।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि । मोक्षमार्गः' कहकर श्रीवाचक-मुख्य ने भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग बतलाया है ।

सूत्रधर्म और चारित्रधर्म का आपस में इतना अधिक घना संबंध है । तो फिर शास्त्रकारों ने दोनों का अलग२ वर्णन किस लिए किया है ? यह प्रश्न किसी को हो सकता है । इसका उत्तर यह है कि यद्यपि दोनों धर्मों का परस्पर घना सम्बन्ध है फिर भी

का आचरण करता है वह मोक्षधर्म का मर्म ठीक तरह नहीं समझ सकता और परिणाम स्वरूप वह मोक्षमार्ग का अधिकारी नहीं बन सकता। इसीलिए भगवान् महावीर ने 'पढमं नाणं तओ दया' अर्थात् पहले ज्ञान फिर दया-चरित्र का हितोपदेश दिया है।

सूत्रधर्म का वास्तविक माहात्म्य और स्वरूप समझाने के लिए शास्त्रकारों ने सूत्रधर्म अर्थात् सम्यक्त्व के आठ आचारों को जीवन में उतारने का उपदेश दिया है। सूत्रधर्म अर्थात् सम्यक्त्व के आठ आचार * इस प्रकार हैं—

(१) निःशंका (२) निःकांक्षता (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढ-दृष्टि (५) उपगूहन (६) स्थिरीकरण (७) वात्सल्य (८) प्रभावना।

---

* निस्संकिय निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छ अमूढदिट्ठी य।
उववूह थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥
(श्री उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २८, गाथा ३१)

टीका —शंकितं—शंकितं देशसर्वशंकात्मकं तस्याभावो निःशंकितं एवं काङ्क्षणं कांक्षितं—युक्तियुक्तत्वादहिंसाद्यभिधायित्वाच्च शाक्योलूक्यादिदर्शनान्यपि सुन्दराण्येवेत्यन्यान्यदर्शनग्रहात्मकं, तदभावो निःकांक्षितम्। प्राग्वदुभयत्र बिन्दुलोपः। विचिकित्सा—फलं प्रति सन्देहो यथा किमियतः क्लेशस्य फलं स्यादुत नेति? तन्न्यायेन 'विद्' विद्वांस्ते च तत्त्वतः साधव एव तज्जुगुप्सा वा यथा—किमसी यतयो मलदिग्धदेहा? प्रासुकजलस्नाने हि को दोषः स्यादित्यादिका निन्दा

(२) निःकांक्षा—सम्यक्-धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों की आकांक्षा न करना और अपने धर्म मे अटल, अचल रहना और निष्काम भाव से सत्प्रवृत्ति करते रहना, यह सम्यक्त्व का दूसरा गुण है।

(३) निर्विचिकित्सा—सम्यक् धर्म के फल में संदेह करना, सम्यग्ज्ञानी के आचार-विचार के प्रति अरुचि रखना, उससे घृणा करना, तिरस्कार करना यह विचिकित्सा दोष है। इस दोष का त्याग करना अर्थात् निर्विचिकित्सा गुण को धारण करना सम्यक्त्व का तीसरा गुण है।

(४) अमूढ़ दृष्टित्व—विवेक बुद्धि रखना अर्थात् प्रत्येक बात को युक्ति अनुभव या आगम की कसौटी पर कसकर स्वीकार करना, सब धर्म के प्रति सद्भाव रखना, किसी धर्म के प्रति घृणाभाव न रखना और सद्धर्म के प्रति मूढतापूर्वक नहीं वरन् विवेक बुद्धिपूर्वक अटल विश्वास रखना, यह सम्यक्त्व का चौथा गुण है। यह सम्यग्ज्ञानी के चार आन्तरिक गुण हैं। इन चार गुणों को धारण किये बिना सम्यक्त्व प्रकट नहीं हो सकता।

सम्यग्ज्ञान का विकास करने वाले बाह्य गुण

(५) उपगूहन—सद्धर्म के मार्ग पर चलने वाले को उत्साहित करना। धर्मनिन्दा का प्रतिकार करना और धर्मगुण की प्रशंसा करना, यह सम्यक्त्व का पाँचवाँ गुण है।

(६) स्थिरीकरण—जो मनुष्य सद्धर्म से च्युत हो रहा है—आपत्ति आने पर या किसी प्रलोभन में पड़कर सद्धर्म का मार्ग त्याग रहा हो उसे आपत्ति में सहायता करना और प्रलोभन से बचाना और धर्ममार्ग में स्थिर करना, यह सम्यक्त्व का छठा गुण है।

(७) वात्सल्य—जगत् के जीवों और विशेषतः सधर्मियों के प्रति वात्सल्य भाव अर्थात् बन्धुभाव रखना और ऐसा प्रयत्न करना जिससे बन्धुभाव में वृद्धि होती रहे, यह सम्यक्त्व का सातवाँ गुण है।

(८) प्रभावना—प्रत्येक समुचित उपाय द्वारा धर्मोन्नति करना धर्म प्रचार करना और धर्मप्रचार से जन समाज को प्रभावित करके धर्ममार्ग पर लाना यह सम्यक्त्व का आठवाँ गुण है।

सम्यक्त्व के इन आठ गुणों में चार आन्तरिक गुण हैं और चार सम्यक्त्व के द्योतक बाह्य गुण हैं। इन बाह्य गुणों के आचरण से सम्यक्त्व का प्रकाशन होता है। सम्यक्त्व के आन्तरिक गुणों—निःशंका, निःकांक्षा, निर्विचिकित्सा और अमूढ़दृष्टित्व को धारण किये बिना बाह्यगुण—उपगूहन, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना—प्रकट नहीं हो सकते अथवा प्रभावशाली नहीं हो सकते।

यह आठ गुण दर्शन के आचार हैं। इन दर्शनाचारों का आचरण करने वाला पुरुष उपर्युक्त फल सम्पादन करता है। यह आठ आचार ज्ञानाचार आदि के भी उपलक्षक हैं। दर्शनाचार मुक्ति का मार्ग है। सूत्रधर्म का समर्थन करने के लिए यहाँ दर्शनाचार का कथन किया गया है। यह आठ आचार सूत्रधर्म के भी समझने चाहिए।

निःशंकता—इन आठ आचारों में 'निःशंक बनना' पहला आचार है। जो मनुष्य धर्म के विषय में अथवा किसी धार्मिक प्रवृत्ति में संदेह रखता है, वह जीवन-ध्येय तक नहीं पहुंच सकता। यही निःशंक बनने का आशय है।

निःशंक बनना अर्थात् दृढ विश्वास रखना। यह स्मरण रखना चाहिए कि दृढ विश्वास में अंध विश्वास की गंध भी नहीं होती। दृढ विश्वास सम्यक्त्व का प्रधान अंग है। अगर धर्म में दृढ विश्वास को स्थान न दिया जाय तो धर्म का आचरण होना कठिन हो जायगा। दृढ विश्वास, धर्मरूपी महल की नींव है। अगर दृढ विश्वास रूपी नींव मजबूत न हुई तो शंका कुतर्क आदि के धक्कों से धर्ममहल हिल उठेगा। मगर धर्म में जो दृढ विश्वास हो वह अन्ध विश्वास में से पैदा नहीं होना चाहिए। जो विश्वास श्रद्धा और तर्क कसौटी पर चढा हुआ होता है वही सुदृढ होता है। अतएव दृढ विश्वास श्रद्धाशुद्ध और तर्कशुद्ध होना चाहिए। धर्मश्रद्धा का जन्म सच्ची जिज्ञासा बुद्धि में से होता है। अतएव जिज्ञासा बुद्धि द्वारा धर्मश्रद्धा दृढ बनानी चाहिए। धर्म के

विषय में शंका करने से शंका रूप लगने का भय निर्मूल है। जो मनुष्य केवल वितंडावाद बढ़ाने के लिए या अपनी तुच्छ शक्ति का प्रदर्शन करने के लिए शंका कीसलों पर आपना रहत है वह धर्म का तनिक भी मर्म नहीं समझ सकता। जो धर्म के विषय में शंका का निवारण कर लेता है वह धर्म का मर्म समझ कर और तदनुसार आचरण करके आत्मशुद्धि प्राप्त करता है। अलबत्ता यह शंका विनयपूर्वक होनी चाहिए।

साहित्य में संशय के संबन्ध में भिन्न२ कथन पाये जाते हैं एक जगह कहा गया है।

न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति।

अर्थात्—मनुष्य जब तक शंका नहीं करता तब तक वह कल्याण को नहीं देख सकता।

दूसरे स्थल पर संशय के संबंध में यों व्याख्या मिलती है

संशयात्मा विनश्यति

अर्थात्—संशय करने वाले की ज्ञानादि रूप आत्मा नष्ट हो जाती है ?

प्रश्न हो सकता है कि यह दो परस्पर विरोधी बातें किस लिए कही गई हैं? अगर संशय बुरी चीज है तो शास्त्रों में अनेक

१ विविदिषा। २ मतप्रदर्शन।

६ जैनशास्त्र में आत्मा आठ प्रकार का है—(१) द्रव्यात्मा ( ) कषायात्मा (३) योगात्मा (४) उपयोगात्मा (५) ज्ञानात्मा (६) दर्शनात्मा (७) चारित्रात्मा (८) वीर्यात्मा।

स्थलों पर श्री गौतम को भगवान् 'जायससय' (जातसशय) अर्थात् गौतम को सशय उत्पन्न हुआ, यह बात क्यों कही है? और यदि सशय अच्छा है तो सशय को सम्यक्त्व का दोष क्यों बतलाया है? इसका कारण क्या है?

इसका समाधान यह है। आप लोग (व्याख्यान के समय) जिस मकान के नीचे बैठे हैं, उसकी ऊंचाई, निचाई अथवा उसके गिर न पडने की मजबूती देख लेना अपना कर्त्तव्य समझते हो। मगर 'बिना परीक्षा किये यहीं मकान पड गया तो?' इस भय के मारे व्याख्यान में सम्मिलित न होओ, यह ठीक नहीं है। इसी प्रकार छद्‌मस्थ अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति केवली-सर्वज्ञ की अपेक्षा सब कुछ नहीं जान सकता। उसमें से उपयोगी बात जानने के लिए विश्वास पूर्वक संशय करने में दोष नहीं है। पर जो पुरुष भीतर ही भीतर सशय में डूबा रहता है और निर्णय नहीं करता वह 'सशयात्मा विनश्यति' का उदाहरण बन जाता है।

आपको भलीभाति मालूम है कि कभी कभी रेलगाड़ी पटरी से नीचे उतर जाती है, जहाज समुद्र में डूब जाता है और उससे लोगों की हानि भी हो जाती है। परन्तु हमेशा ऐसा प्रसग नहीं आता। कभी कभी ही ऐसी अनिष्ट दुर्घटना होती है। ऐसी स्थिति में अगर कोई गृहस्थ यह शका करके कि रेलगाड़ी और जहाज में बैठने वाले मर जाते हैं, रेलगाडी या जहाज का उपयोग ही न करे, तो क्या उसकी यह शका आप उचित समझेंगे? नहीं।

केवल आपत्ति के डर से किसी काम में हाथ न डालना, कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। काम करते समय हानि-लाभ का विचार और विवेक अवश्य होना चाहिए पर डर न ले, किसी काम को शंका की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए। मनुष्य निश्चयात्मक बुद्धि से जितना अधिक विचार करता है उस उतना ही अधिक गंभीर रहस्य समझ में आता है।

कौन जाने परमात्मा है या नहीं? यह साधु है या नहीं? अथवा साधु द्वारा बतलाये हुए उपायों से परमात्म-पद की प्राप्ति होगी या नहीं? इस प्रकार की शंकाएं करके बा मनुष्य दृढ़ एक और पन पर आस्था नहीं रखता, वह क्षण क्षण में अपने हृदय में संशय उत्पन्न करता करता अन्त में शंकाशील बन जाता है और उसकी आत्मा ज्ञानदृष्टि से निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है।

अगर कोई कहे कि जैनशास्त्र सत्य है, इस बात की पुष्टि में क्या कोई प्रमाण है? यह प्रश्न ठीक है।

मैं आपसे पूछता हूँ—पाँच और पाँच कितने होते हैं? दस।

अगर कोई गणितशास्त्र का एम ए. आपसे कहे कि पाँच और पाँच ग्यारह होते हैं तो क्या आप उसकी बात मान लेंगे? कदापि नहीं। अगर वह कहे कि मैंने गणित में एम ए. पास किया है इसलिए मेरी बात प्रमाणभूत है, तो आप उसे क्या उत्तर देंगे? आप कहेंगे-इस विषय में हमारा अनुभव है। यही नहीं हमें विश्वास भी है कि पांच और पांच मिलकर दस ही होते हैं। इस

ग्यारह बताकर हमें भ्रम में डाल रहे हो। हम इसे मानने के लिए तैयार नहीं। तुम स्वयं भूल कर रहे हो।

जैसे पाँच और पाँच मिलकर दस ही होते हैं, यह बात प्रत्येक मनुष्य सरलतापूर्वक समझ सकता है, इसी प्रकार जैनधर्म के सिद्धान्त भी ऐसे हैं, जिन्हें सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। उनकी सचाई भी बहुत जल्दी मालूम हो सकती है। तात्पर्य यह है कि जैन सिद्धान्त की करीब-करीब सभी बातें अपने अनुभव से समझी जा सकती है।

प्रत्येक मनुष्य इस बात को अच्छी तरह जानता है कि जो धर्म हिंसा का विधान करता है वह धर्म वास्तव में धर्म नहीं है। अब तुम बताओ कि जैनधर्म हिंसा का प्रतिपादन करता है या अहिंसा का? अहिंसा का।

अगर कोई आदमी छल-कपट करके तुम्हारी कोई चीज छीन ले तो तुम उसे क्या कहोगे-धर्मात्मा या पापी? पापी।

प्रत्येक मनुष्य बिना सिखाये ही, केवल अपने ही अनुभव से ऐसे कृत्य को अधर्म कह सकता है। इसी प्रकार जैनधर्म के सिद्धान्त भी अनुभवसिद्ध हैं। उनकी सत्यता प्रतिपादन करने के लिए प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। अपनी आत्मा का अनुभव ही उन सिद्धान्तों की सत्यता के लिए प्रमाणभूत है।

अगर कोई ऐसी शंका करे कि जिन्होंने अहिंसा को धर्म बतलाया है उनका बतलाया हुआ भूगोल और खगोल, आधुनिक

यह वैज्ञानिकों का कथन है कि वायु में भी वजन है और वह वजन तोला भी जा सकता है। हमें हवा में वजन नहीं मालूम पड़ता इसका कारण सिर्फ यही है कि अपने पास उसे तोलने के साधन नहीं हैं। ठीक इसी प्रकार अपना भूगोल और खगोल जिस सिद्धान्त पर रचा गया है उसे सिद्ध करने के लिए हमारे पास उपयुक्त साधन नहीं हैं। अगर साधन होते तो उसे प्रमाणित किया जा सकता था कि अमुक सिद्धान्त पर इस भूगोल की रचना की गई है।

जैन भूगोल में चौदह राजू लोक की स्थिति पुरुषाकार बताई गई है। अगर कोई मनुष्य, इस लोकस्थिति का प्रतिदिन एक घंटा ध्यान करे तो छह महीने बाद वह स्वयं स्वीकार करेगा कि इसमें अपूर्व आनन्द भरा हुआ है। मुझे थोड़ा-सा ही अनुभव है, फिर भी मैं कह सकता हूँ कि इससे बहुत आनन्द आता है। जो विशिष्ट ज्ञानी हैं उन्हें इस लोकस्थिति के ध्यान से कैसा आनन्द आता होगा ? यह बात वाणी के अगोचर है।

इससे यह सिद्ध है कि जिन्होंने जैन सिद्धान्त और जैनशास्त्रों की रचना की है वे सर्वज्ञ थे। उनके कहे प्रत्येक शब्द में अत्यन्त गूढ़ रहस्य छिपा है। उनकी सब बात समझने में हमारी बुद्धि असमर्थ हो, यह बात जुदी है।

जैनधर्म में अहिंसा, सत्य आदि मंगलधर्मों के सम्बन्ध में सूक्ष्मतर विचार करने हुए जीव, अजीव आदि नव तत्त्वों का तथा

अनेकान्तवाद, नयवाद, प्रमाणवाद, कर्मवाद, आत्मस्वरूप आदि मौलिक सिद्धान्तों का जो अन्वेषण किया गया है, वह इतना स्वाभाविक और वैज्ञानिक है कि उनकी बदौलत जैनधर्म सर्वसाधारण के लिए आकर्षण का केन्द्र हो गया है। विज्ञान के विकास के साथ जैनधर्म का रहस्य जनसमाज की समझ में आता जायगा।

जैनधर्म के सिद्धान्तों को समझने के लिए अनेकान्तवाद चाबी है। आज धर्म का जो सत्य स्वरूप भूला जा चुका है उसका प्रधान कारण अनेकान्तवाद की अवगणना है। अनेकान्तवाद की चाबी से जब जैनधर्म का भव्य द्वार खोला जायगा तभी जैनधर्म का साक्षात्कार होगा।

एक प्रश्न जो सारे संसार को गड़बड़ में डाल रहा है, यह है कि अहिंसा अगर कल्याणकारिणी है तो अहिंसाधर्मी जैनों की अवनति क्यों हुई? प्रश्न सही है क्योंकि जैनों की अवनति हो रही है। भारत में अहिंसा पालने वाले बहुत हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो मतभेद हो पर राम, कृष्ण, जैन आदि सभी धर्मों ने 'अहिंसा परमो धर्मः' स्वीकार किया है। तो अहिंसाप्रधान भारत देश की अवनति क्यों हुई?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अहिंसाधर्म आचरणीय धर्म है। इसका पूर्णरूप से पालन करने वाले बहुत थोड़े हैं और वे भी नाम मात्र के हैं।

अहिंसा धर्म का पालन वीर पुरुष ही कर सकते हैं, कायर

आज मनुष्यों में डर घर कर गया है। जो मनुष्य डरपोक है वह अहिंसाधर्म का पालन कदापि नहीं कर सकता।

जब तक मनुष्य सम्यक् प्रकार से अहिंसा का पालन करना न सीखे तब तक कभी उन्नति होने की नहीं; यह बात सुनिश्चित है।

कहा जा सकता है, अगर अहिंसा का पालन किये बिना उन्नति सम्भव नहीं है तो हिंसा करने पर भी पाश्चात्य देशों की उन्नति कैसे हो गई?

इसका उत्तर यह है कि यूरोप की मालूम होने वाली भौतिक उन्नति वास्तव में उन्नति नहीं है। वह भयंकर अवनति है। भारतवर्ष में अहिंसा के जो कुछ संस्कार-अवशेष हैं, उनके प्रभाव से जितनी सुसंस्कारिता अधिकांश भारतीयों में दिखाई देती है, उतनी संसार के किसी भी छोर पर-किसी भी देश में नजर नहीं आती। अगर भारतीय दाम्पत्य धर्म के साथ अमेरिका के दाम्पत्य धर्म का मिलान किया जाय तो स्पष्ट मालूम होगा कि अमेरिका में प्रतिशत पचानवे विवाहसम्बन्ध भंग किये जाते हैं। इसके सिवाय भारतवर्ष में गरीब से गरीब मनुष्यों को जितना सुख मिल रहा है उतना सुख वहाँ के गरीब मनुष्यों को नहीं मिलता।

एक बार मैं घाटकोपर (बम्बई) में चातुर्मास में स्थित था। तब मेरे सुनने में आया था कि अमेरिका गये हुए एक भारतीय सज्जन का यहाँ पत्र आया है। उन्होंने पत्र में लिखा है—अमेरिका के निम्न श्रेणी के मनुष्यों की आर्थिक स्थिति भारतवर्ष के निम्न

श्रेणी के मनुष्यों की अपेक्षा बहुत ज्यादा है। यहाँ कि गरीब आदमी प्रायः मजदूरोंकी रही चिथड़े ओढ़नेके काम लेते हैं।' यहाँ कुछ आदमी करोड़पति हैं, मगर कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें ओढ़ना-बिछौना भी नसीब नहीं है। इस स्थिति को सुधार या उन्नति कहना उचित नहीं है।

प्रत्येक प्राणी को अपनी आत्मा के समान समझ कर आत्मौपम्य की भावना की उन्नति में ही मानव-समाज की सच्ची उन्नति है।

अगर वैभव ही वास्तविक उन्नति है अर्थात् गरीबोंके जीवन-मरण का विचार न करके, चाहे जिस उपाय से धन लूट कर तिजोरियाँ भर लेना ही उन्नति का आदर्श है, तो जो मनुष्य दगाबाजी करके, सट्टा करके धनोपार्जन कर रहे हैं, वे भी उन्नति कर रहे हैं, यह मान लेना पड़ेगा। अगर इस प्रकार छल-कपट कर के धन लूट लेने को उन्नति मान लिया जाय तो कहना होगा अभी हम उन्नति का अर्थ ही नहीं समझ पाये हैं।

आज विश्व में विषमता के कारण जीवन दुःखमय हो रहा है। जहाँ देखो वहीं भेदभाव विषमता ऊँच-नीच की भावना फैली हुई है। इसी कारण दुःख और दरिद्रता की वृद्धि हो रही है। जगत् की इस दुःखद अवस्था में सुधारने का एक ही मार्ग है और वह है समानता का आदर्श। समानता के आदर्श का व्यवहार करने में ही सच्चा सुख है।

एक अहिंसावादी, मर भले ही जाय पर अन्यायपूर्वक किसी का प्राण-धन हरण नहीं करता, और एक दूसरा मनुष्य किसी का जीवन लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करता है, तो इन दोनों में आप किसे उन्नत समझेंगे ? अहिंसावादी को।

अहिंसा-धर्म का ठीक-ठीक रहस्य न समझ कर, अथवा अहिंसावादी कहला कर भी हिंसक कृत्य करने से अवनति न होगी तो क्या उन्नति होगी ?

आज मन्दिरों, तीर्थों और अन्य धर्म स्थानों में धर्म के नाम पर जो अत्याचार एवं अनाचार हो रहे हैं उन कुकर्मों का फल क्या बिना मिले रहेगा ? भारतवर्ष अपने ही कुकर्मों से अवनति के गड्हे में गिरा है। अब तक मनुष्यों में सत्य, शील, सदाचार आदि गुणों का अंश अवशिष्ट है वह सब पूर्वजों का ही प्रताप है। हम लोग तो अपने पूर्वजों द्वारा उपार्जित धर्म-सम्पत्ति का व्यय ही कर रहे हैं। हमने कुछ नवीन उपार्जन करके उसे बढ़ाया नहीं है। मगर आज मनुष्य जितने परिमाण में अहिंसापालन, तपश्चरण आदि प्रशस्त क्रियाएं करते हैं उतने परिमाण में वे संसार को कल्याणमार्ग की ओर ले जाने के लिए अपने जीवन का सदुपयोग कर रहे हैं।

कहा जा सकता है कि जैनधर्म में दो प्रकार की अहिंसा क्यों कही गई है ? जैसा कि कुछ ×लोग कहते हैं—'जीवों को न मारना अहिंसा है मगर मरते हुए जीवों को बचाना पाप है।'

× ऐसी अटपटी मान्यता श्वे० तेरापंथी सम्प्रदाय की है।

अगर हमारी ऐसी मान्यता है और यह सर्वथा न्यायसंगत है तो जो मनुष्य 'मत मारो' कह कर हिंसा का निषेध करता है उसे हिंसक बतलाना क्या उचित है? हर्गिज नहीं।

इस विवेचन का तात्पर्य इतना ही है कि जो लोग अहिंसा का अर्थ सिर्फ न मारना ही कहते हैं और बचाना हिंसा मानते हैं वे बड़ी भूल कर रहे हैं।

अहिंसाधर्म संसार में सर्वोत्तम धर्म है। यह धर्म स्वाभाविक एवं आत्मानुभव सिद्ध है। इसमें संदेह को अवकाश ही नहीं है।

सारांश यह है कि कौन बात कितनी हद तक सत्य है, यह विचार पहले ही कर लेना चाहिए। जिसमें संशय हो उसका निर्णयात्मक बुद्धि से विचार कर संशय दूर कर लेना चाहिए। परन्तु धर्म नामक तत्त्व है या नहीं? इस प्रकार के संदेहों को अन्तःकरण में स्थान नहीं देना चाहिए। जो पुरुष इस प्रकार का संदेह करता है उसकी आत्मा, ज्ञानदृष्टि से खो जाती है—नष्ट हो जाती है। इसके विपरीत जो पुरुष निर्णयात्मक बुद्धि से अपनी शंकाओं का निवारण करता है वह सत्पथ पर आरूढ़ होकर, अग्रसर होकर आत्मसिद्धि का लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।

कांक्षा का अर्थ है इच्छा करना। अन्य धर्म का दर्शन और निःकांक्षा उसकी धर्मक्रिया देख कर, स्वधर्म का परित्याग करके अन्य धर्म को ग्रहण करने की इच्छा करना 'कांक्षा' कहलाता है। यह सम्यक्त्व का दोष है और इच्छा या कांक्षा न करना सम्यक्त्व का अंग है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संसार में ऐसा कौनसा जीव है जिसे किसी प्रकार की कांक्षा न हो ? जिस पुरुष को किसी भी प्रकार की कांक्षा नहीं होती वह छद्मस्थ नहीं, वीतराग है। छद्मस्थ को तरह-तरह की कांक्षाएं होती हैं। ऐसी स्थिति में सम्यग्दृष्टि को किस वस्तु की कांक्षा नहीं करनी चाहिए ?

इसका उत्तर यह है कि जो स्वधर्म के देव और गुरु के सिवाय अन्य धर्मों के देव और गुरु की कांक्षा करता है उसका सम्यक्त्व दूषित हो जाता है।

प्रश्न उठता है—स्वधर्म क्या है ? अपने अपने धर्म की सभी बड़ाई करते हैं। सब कहते हैं—हमारे धर्म को मानो, हमारे गुरुओं को वन्दना करो और किसी दूसरे को मत मानो।

गीता में कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेय परधर्मो भयावह ।

अर्थात्—स्वधर्म में रहते हुए मृत्यु का आलिंगन करना श्रेयस्कर है मगर पर धर्म भय कर है

जब तक स्वधर्म और परधर्म का ठीक-ठीक निर्णय न हो जाय तब तक वस्तुतत्त्व समझ में नहीं आ सकता। अतएव सर्वप्रथम यही निश्चय करना चाहिए कि स्वधर्म से क्या अभिप्राय है और परधर्म का क्या आशय है ?

धर्म के दो भेद हैं—एक तो पर्यायधर्म और दूसरा आस्तिक-धर्म। यदि धर्म का इस प्रकार वर्गीकरण करके उसका स्वरूप न

समझ लिया जाय तो अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़े।

जैसा कि अभी बतलाया गया है, गीता का कथन है कि यदि अपने धर्म में कुछ कठिनाइयां हों और दूसरे धर्म में सरलता दिखाई देती हो तो भी पर-धर्म को न अपना कर अपने धर्म के लिए प्राण दे देने चाहिए।

क्या इसका मतलब यह है कि एक शराबी शराब पीना अपना धर्म समझता है, शराब के बिना उसका काम नहीं चलता, तो शराब के लिए उसे प्राण दे देने चाहिए? नहीं, इसका यह अर्थ नहीं है। राजा प्रदेशी को, जिसके हाथ सदा खून से रंगे रहते थे और जिसने जीव-हिंसा करना ही अपना धर्म मान रक्खा था, क्या मुनि के उपदेश से हिंसा का त्याग नहीं करना चाहिए था? तब स्वधर्म के लिए प्राण तक न्यौछावर कर देने का कारण क्या है?

मैंने जहां तक विचार किया है तथा अन्य विद्वानों के विचार सुने हैं, उससे यही प्रतीत होता है कि यहां धर्म शब्द का तात्पर्य वर्णाश्रम धर्म के साथ है। यहां अपने वर्णधर्म पर डटे रहने का उपदेश दिया गया है।

वर्णाश्रम धर्म के विषय में अगर ऐसा कड़ा उपदेश न दिया जाय तो संसार की व्यवस्था ठीक न रहती। ब्राह्मण को ब्राह्मण धर्म पर, क्षत्रिय को क्षत्रियधर्म पर, वैश्य को वैश्यधर्म पर, शूद्र को शूद्रधर्म पर कायम रहना चाहिए। मगर इस कथन का आशय

यह भी नहीं है कि विद्याध्ययन करना ब्राह्मण का धर्म है इसलिए क्षत्रिय को विद्याध्ययन से बिलकुल अपरिचित ही रहना चाहिए। अथवा क्षत्रिय का धर्म वीरता धारण करना है अतएव ब्राह्मण को निर्बल एवं कायर रहना चाहिए। वैश्य का धर्म व्यापार करना है और शूद्र का सेवा करना है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वैश्य की स्त्री को कोई अपहरण कर ले जाय तो वह वीरता के अभाव में युद्ध न कर सके या शूद्र विद्या के सर्वथा अभाव के कारण यथोचित सेवा धर्म का पालन ही न कर पावे।

याद रखना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य में चारों गुणों का होना अत्यावश्यक है। इनके बिना जीवन का यथोचित निर्वाह ही नहीं हो सकता। अगर प्रत्येक वर्ण वाले में चारों गुणों होना आवश्यक है तो वर्णाश्रम धर्म किस प्रकार निभेगा? इस प्रश्न का समाधान यह है कि प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक काम में प्रवीण नहीं होता। वह किसी एक ही काम में विशिष्ट योग्यता और कुशलता प्राप्त कर सकता है। इसी आधार पर वर्ण का विभाग किया गया है।

मान लीजिए एक क्षत्रिय युद्ध में लड़ने गया। वहाँ वह कुछ कठिनाइयाँ देखकर बनिया बन जाने की चेष्टा करता है। वह सोचता है—बनिया बन जाऊँगा तो मौत की भयंकरता से बच जाऊँगा और आराम से जीवन-निर्वाह करूँगा। इस प्रकार

की कांक्षा नीच काक्षा है। ऐसी कांक्षा कदापि नहीं करनी चाहिए। उसे गीता के विधान का स्मरण करते हुए अपने कर्त्तव्य पर, अपने धर्म पर हंसते-हंसते प्राण निछावर कर देने चाहिये।

जिस समय वीर अर्जुन को रण में लड़ने के समय त्यागी ब्राह्मण बनने की कांक्षा हुई तो श्री कृष्ण ने कहा—

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत् त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वत्तिष्ठ परन्तप!

हे पार्थ! इस क्लीवता—नपुंसकता को हटाओ। तुम सरीखे बहादुर क्षत्रिय के लिए यह शोभा नहीं देती। हृदय की क्षुद्र दुर्बलता का त्याग करके तैयार हो जाओ।

तब यह स्पष्ट है कि वर्णधर्म की अपेक्षा स्वधर्म का अर्थ है—परम्परागत कर्त्तव्य। संकट पड़ने पर उसका त्याग करना स्वधर्म का त्याग करना है और दूसरे वर्ण के कर्त्तव्य को ग्रहण करने की अभिलाषा करना 'कांक्षा' है।

जैसे वर्णधर्म के पक्ष में कांक्षा दोष है इसी प्रकार आत्मिकधर्म के पक्ष में भी 'कांक्षा' दोष है। जो दर्शन या जो शास्त्र समग्र और शाश्वत सत्य का निरूपण न करके अपूर्ण सत्य की ओर ही संकेत करते हैं और जिनमें पूर्वा-पर विरोधी बातों का समावेश है, जिनका प्रणेता सर्वज्ञ और वीतराग नहीं है, ऐसे दर्शनों की

आकांक्षा करना कैसे उचित कहा जा सकता है? इसी कारण 'निःकांक्षता' सम्यक्त्व का अंग माना गया है।

वास्तव में 'कांक्षा' एक ऐसा विकार है, जिसके संसर्ग से तपस्वियों की घोर तपस्या और धर्मात्माओं के कठोर से कठोर धर्मानुष्ठान भी कलंकित हो जाते हैं।

प्रत्येक मनुष्य को कांक्षाहीन होकर ही कर्त्तव्य करना चाहिये। जो कांक्षा से अलग रहता है वह सबका प्रिय बन जाता है। कांक्षाहीन वृत्ति वाले के लिए मोक्ष दूर नहीं रहता। मगर फल की आकांक्षा करने पर मनुष्य न इधर का रहता है, न उधर का रहता है।

आज समाज में काम करने से पहले उसके फल की इच्छा रखने वाले बहुत हैं। कितनेक ऐसे हैं जो काम कुछ भी नहीं करना चाहते पर फल के लिए मुंह फैलाये बैठे रहते हैं। इस प्रवृत्ति के कारण कर्त्तव्यभ्रष्ट होकर लोगों का घोर पतन भारत में हो गया है। समाज में अगर निस्पृहता से काम किया जाय तो काम करने वाले के साथ ही साथ समाज का भी अच्छा कल्याण हो सकता है। सच्चे सम्यग्दृष्टि में ऐसी निस्पृहवृत्ति होनी चाहिए।

निर्विचिकित्सा—धर्म में बुद्धि स्थिर न रखने से और मन को डांवाडोल स्थिति में छोड़ रखने से धर्म-अधर्म का विवेक जागृत नहीं होता। निश्चल-बुद्धि के जागृत न होने से धर्म की स्थिरता नहीं होती और अधर्मबुद्धि का अन्त नहीं होता। अतएव

स्वधर्म पर दृढ विश्वास रखना चाहिए और परधर्म में मोहबुद्धि नहीं रखनी चाहिए।

विचिकित्सा का अर्थ है-धर्मकृत्य के फल में संदेह करना। अगर कोई मनुष्य विचार करे कि मैं धर्म-पालन के लिए इतना कष्ट झेल रहा हूँ सो इसका फल मिलेगा या नहीं ? इस प्रकार फल में संशय करना विचिकित्सा है। अथवा मुनियों का तन मलिन देखकर घृणा करना भी विचिकित्सा दोष है। जैसे- यह मुनि शरीर को क्यों इतना मलीन रखते हैं ? अगर अचित्त जल से स्नान कर लें तो क्या हानि है ?

शंका और विचिकित्सा में क्या अन्तर है ? इसका समाधान यह है कि सिद्धान्त सम्बन्धी संशय शंका दोष कहा गया है और कर्त्तव्य के फल सम्बन्धी संशय को विचिकित्सा दोष माना गया है।

शंका, कांक्षा और विचिकित्सा रखना मन की दुर्बलता है। सर्वज्ञ की वाणी में इन्हें स्थान नहीं देना चाहिए। जो पुरुष सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित धर्म के फल में संदेह करता है वह अज्ञान है। एक लौकिक उदाहरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी।

एक विद्याधर ने किसी मनुष्य को आकाशगामिनी विद्या सिखाई। उसने विद्या की परीक्षा तो कर ली मगर ऐसा अवसर उसे हाथ न लगा कि वह उससे विशेष काम लेता। अन्त में मरते समय उसने अपने लड़के को वह विद्या सिखलाई और कहा—

बेटा यह विद्या मैं सिद्ध कर चुका हूँ। इसमें संदेह मत करना। पिता का देहान्त हो गया।

जब कुछ समय बीत गया तो लड़के ने सिद्ध की हुई विद्या की परीक्षा करने का विचार किया। वह पिता के कथनानुसार सब सामग्री लेकर जंगल में गया। वहाँ वड़ के पेड़ के नीचे एक भट्टी खोदी। उस पर तेल की कड़ाई जमाई और चौरासी तारों का एक छींका बनाकर सूत के धागे में बांधकर पेड़ की डालियों पर लटका दिया।

भट्टी में आग जलाकर, जब तेल खौलने लगा तब मंत्र को पढ़ते-पढ़ते छींके में बैठना था। और एक-एक बार मंत्र बोलकर एक-एक तार काटते जाना था। यद्यपि यह विद्या स्वयं पिता की आजमाई हुई थी और किसी प्रकार के संशय का कोई कारण न था फिर भी लड़का बहुत डरा। वह सोचने लगा-मैं छींके पर चढ़ूँ और छींका टूटकर गिर जाय तो मैं सीधा कड़ाई में जा रहूँगा-जल मरूँगा।

इधर लड़का इस परोपेश में पड़ा था उधर नगर में, राज-महल में चोरी हुई। बहुतसा जवाहरात आदि चोरी चला गया। सिपाही चोर के पीछे पड़े। ढूँढते-ढूँढते आखिर चोर दिखाई दिया। अब चोर आगे-आगे भागता जाता था और सिपाही उसका पीछा कर रहे थे। चोर जंगल में पहुँचा। उसे यह लड़का दिखाई दिया। सिपाही जंगल को चारों ओर से घेर कर खड़े हो गये।

चोर ने लड़के से पूछा-भाई, क्या कर रहे हो ? लड़के ने उत्तर दिया-मुझे धन चाहिए। धन प्राप्त करने के लिए अपने पिताजी द्वारा सिद्ध की हुई विद्या से आकाश में उड़कर धन लेने जाऊँगा। पर भय लगता है-कहीं कड़ाई में न गिर पड़ूँ ?

चोर ने कहा-तुम्हें धन चाहिए तो लो, मेरे पास बहुत सा धन है। मुझे अपना मंत्र सिखा दो।

लड़का धन लेकर फूला न समाया। उसने चोर को मंत्र सिखा दिया। चोर बेखटके छींके में जा बैठा। वह एक बार मंत्र बोलता और एक तार काट देता। सब तार कट गये तो सर्र-से आकाश में उड़ गया। लड़के ने सोचा-पिताजी का बताया मंत्र सच्चा था। मगर मुझे धन की आवश्यकता थी और वह मिल गया। तब जान जोखिम में डालने की क्या आवश्यकता है ?

अरुणोदय हुआ। पूर्व दिशा में लाली छा गई। कुछ-कुछ प्रकाश फैलने लगा। सिपाही झाड़ी में दाखिल हुए। उन्होंने चोरी के माल के साथ लड़के को पकड़ लिया।

लड़का हैरान था। कुछ उसकी समझ में नहीं आ रहा था। उसने कहा-मुझे आप क्यों पकड़ते हैं ? मैंने अपराध क्या किया है ?

सिपाही-चोरी का माल पास में रख छोड़ा है और पूछता है-क्यों पकड़ते हो ?

लड़का-चोरी का माल ? यह चोरी का है ? मुझे एक आदमी ने दिया है और वह आकाश में उड़ गया है।

सिपाही—चल, रहने भी दे। अब भी हमें बहादुर बनाना चाहता है! आदमी कहीं आकाश में उड़ते होंगे! चालाक कहीं का!

लड़के के होश उड़ गये। वह पश्चात्ताप करने लगा कि अगर मैंने पिताजी के वचनों पर विश्वास किया होता तो यह दिन नहीं देखना पड़ता।

तात्पर्य यह है कि सम्यक्त्वी को सर्वज्ञ भगवान् की वाणी में अविचल श्रद्धा रखनी चाहिए लौकिक सुख-सुविधा आदि के विचार से पर-धर्म की आकांक्षा न करना चाहिए और धर्मकरणी के फल में संशय न रखना चाहिये।

(४) अमूढदृष्टि—परधर्मावलम्बियों को ऋद्धिसम्पन्न देख कर जिसके मन में यह व्यामोह उत्पन्न नहीं होता है कि 'यह ऋद्धिसम्पन्न है अतएव इसका धर्म श्रेष्ठ है और मेरा धर्म निकृष्ट है' वह अमूढदृष्टि कहलाता है। यह सम्यक्त्व का चौथा आचार है।

जो मनुष्य किसी की बाह्य ऋद्धि देखकर सोचता है—'यह गुरुजी तो कोई चमत्कार नहीं बताते' यह मूढ-दृष्टि है। जिसमें ऐसी मूढतापूर्ण दृष्टि नहीं होती वह अमूढदृष्टि कहलाता है।

धर्माचरण का फल आत्मशुद्धि है। उसे भूलकर जो धन-धान्य आदि नश्वर भोग की सामग्री की प्राप्ति में धर्म की सफलता मानता है और किये हुए धर्माचरण का फल पाने के लिए अधीर हो जाता है वह मूढ नहीं तो क्या है?

सम्यग्दर्शन वह ज्योति है, जिसे उपलब्ध कर मनुष्य विवेक-मयी दृष्टि से सम्पन्न बन जाता है। जहाँ सम्यग्दर्शन होगा वहाँ मूढ़दृष्टि को अवकाश नहीं रहता।

ऊपर बताये हुए चार आचार सम्यक्त्व के आन्तरिक आचार हैं अर्थात् इन आचारों का हृदय में आचरण किया जाता है। यह चारों आचार व्यक्तिगत आन्तरिक मनोवृत्ति से संबन्ध रखते हैं। सम्यग्दर्शन का दिव्य दीपक जब अन्तःकरण में आलोकित हो उठता है तब अन्तरंग में उल्लिखित चार विशेषताएं उत्पन्न होती हैं। अन्तरंग में विशेषता आ जाने पर सम्यग्दृष्टि की बाह्य प्रवृत्ति में भी विशेषता आना अनिवार्य है। इन विशेषताओं को चार बाह्य आचार कहते हैं। वे इस प्रकार हैं- (५) उपबृंहण-वृत्ति (६) स्थिरीकरण (७) वात्सल्य और (८) प्रभावना।

(५) उपबृंहणावृत्ति—किसी के धार्मिक उत्साह की किसी भी उचित उपाय से वृद्धि करना उपबृंहण कहलाता है। जैसे-अगर कोई सम्यग्दर्शन गुण से विभूषित है तो उसके गुण देखकर उसे उत्साहित करना-'आपका जन्म सफल है, आप सरीखे सत्पुरुषों को यही उचित है।' इस प्रकार सम्यग्दृष्टि के सद्गुणों में अपना प्रमोदभाव व्यक्त करना और उसे धर्म के प्रति उत्साहित करना 'उपबृंहण या उपबृंहणा' है।

(६) स्थिरीकरण—स्वीकार किये हुए धर्म के अनुष्ठान करने में जिसे विषाद-शोक होता हो, उसे स्थिर बनाना अर्थात्

उसे धर्म में दृढ़ करना स्थिरीकरण अंग है। इसी प्रकार सम्यक्त्व से गिरते हुए को सम्यक्त्व में स्थिर करना भी स्थिरीकरण है। कहा भी है—

दर्शनाच्चरणाद्वापि, चलतां धर्मवत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः, स्थिरीकरणमुच्यते॥

अर्थात्—धर्मप्रेमी पुरुष सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र से विचलित होने वाले सहधर्मी को दर्शन-चारित्र में दृढ़ करता है, इसी को स्थिरीकरण कहते हैं।

धर्म में पुनः स्थिर करने के दो मुख्य मार्ग हैं—प्रथम धर्म में अस्थिर बने हुए को धर्म का उपदेश देकर स्थिर करना और दूसरे असहाय को सहायता देकर स्थिर करना।

यह कहा जा सकता है कि असहाय को सहायता देने से किसी न किसी प्रकार के आरंभ की संभावना है। यह कहना ठीक है परन्तु सम्यग्दृष्टि आरंभ को आरंभ मानता है। फिर भी अगर कोई पुरुष धर्म में स्थिर होता है तो वह महान् सम्यक्त्व का आचार है। इस आचार में पाप नहीं है वरन् धर्म है।

वात्सल्यभाव—वात्सल्य आचार में अत्यन्त गूढ़ रहस्य है। गाय जैसे अपने बछड़े पर प्रेमभाव रखती है, उसी प्रकार सहधर्मी पर निःस्वार्थ प्रेम रखना वात्सल्य आचार है। वात्सल्य गुण यद्यपि हृदय की कोमलतर विभूति है, पर वह व्यवहार में आये बिना

नहीं रहता। उसे व्यवहार में लाने के अनेक द्वार हैं। जैसे किसी श्रावक की एक कन्या है। उसने विचार किया—मुझे अपनी कन्या का विवाह करना है, पर किसी सहधर्मी के साथ विवाह हो तो अच्छा है, क्योंकि धर्म प्राप्त होना कठिन है; और धर्म पर श्रद्धा रखने से जैसा मुझे अलौकिक आनन्द और सतोष मिलता है, उसी प्रकार उसे भी मिल सकेगा। धर्म के प्रति उसकी अभिरुचि भी बढ़ेगी साथ ही एक सहधर्मी भाई को गृहस्थधर्म के पालन में सहायता मिलेगी। इसी प्रकार बाजार से कोई चीज खरीदनी है तो सहधर्मी की दूकान से खरीदना, सहायक नौकर की आवश्यकता हो तो सर्वप्रथम सहधर्मी को ही अवसर देना, और सोचना कि सहधर्मी भाई होगा तो काम-काज में भी सहायता मिलेगी और धर्म में भी सहायता मिलेगी, साथ ही सहधर्मी की बेकारी दूर हो जायगी। यह वात्सल्य गुण है। वात्सल्य गुणधारी सम्यग्दृष्टि विवाह आदि कृत्यों में भी सहधर्मी-वात्सल्य का विचार रखता है।

प्राचीन काल में स्वधर्मीवात्सल्य का गुण कितना विकसित था, यह बात नीचे लिखे ऐतिहासिक उदाहरण से स्पष्ट समझ में आएगी —

बहुत वर्षों पहले की बात है। माडलगढ़ नाम की विशाल नगरी थी। वहां के जैन स्वधर्मीवात्सल्य का पालन करना जानते थे। सब समान थे, सभी स्वधर्मीबन्धु थे। वे सब मिल-जुल कर रहते और विकास करते थे।

उनका सामाजिक जीवन भी बड़ा उन्नत था। रोटी-बेटी का सम्बन्ध सबके साथ समान व्यवहार था। दस्सा बीसा ओसवाल पोरवाड़ आदि के भेदभाव ने उनकी एकता के बीच में कोई दीवाल खड़ी नहीं की थी। सभी जिन के उपासक, सभी स्वधर्मी भाई। भेद भला क्यों होता? यह सुनकर आश्चर्य होगा पर कहा जाता है कि वे सभी लखपति थे और वहाँ एक लाख घरों की जैनों की बस्ती थी।

यह कपोल-कल्पित कहानी नहीं है। इसका आधारभूत ऐतिहासिक प्रमाण है। आज भी एक सरीखे अनेक मकानों की पंक्ति, थोड़े-थोड़े अन्तर पर नालछा से लेकर मांडवगढ़ तक [illegible] मील की लंबाई में खण्डहरों के रूप में खड़ी हुई महत्त्वपूर्ण अतीतकालीन आदर्श की साक्षी दे रही है। यह खण्डहरों की माला जैनों के विगत ऐश्वर्य की और उनके स्वधर्मीवात्सल्य की मनमोहकी मूर्ति है। वास्तव में पहले यह जैनपुरी थी। आजकल यह धार रियासत के अन्तर्गत है। यहाँ के गरीब और राज्यपीड़ित जीवों के लिए आज भी यह आश्वासनदायक स्थान है। एकसे मकानों की बनावट को देखकर आज अतीत काल का सुन्दर चित्र आँखों के आगे खड़ा हो जाता है।

एक सरीखे मकानों की बनावट क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वहाँ सच्चा स्वधर्मीवात्सल्य था। हम लोगों में

एक पुरानी कहावत है - 'मात-पाच की लकड़ी, एक जन का बोझ'
यह कहावत माडलगढ़ मे किसी समय प्रयोग में लाई जाती थी।

माडलगढ़ के जैनों में यह नियम प्रचलित था कि अपना कोई स्वधर्मी भाई नया नया आवे तो प्रत्येक घर से एक रुपया और एक ईंट से उसका स्वागत किया जाय। वहा एक लाख घर थे अतएव आने वाला सीधा लखपति और सुन्दर मकान का मालिक बन जाता था। इसे कहते हैं जैन समाज का स्वधर्मी वात्सल्य।

इस प्रकार स्वधर्मीवात्सल्य की आराधना करने से अनायास ही समानता उत्पन्न होती है। और यह समानता सच्ची विश्वव्यापी मानवता में से प्रादुर्भूत होती है। और मानवता का अधिक से अधिक प्रचार तथा विकास ही जनसंस्कृति का आदर्श है।

इसका अर्थ यह न समझा जाय कि सब जैनों को लखपति बन जाना चाहिए। अगर समस्त जैन लखपति बन जाय तो दूसरी प्रजा क्या करेगी? अपरिग्रह जैनों का प्रधान व्रत है और उसे जीवन में स्थान मिलना चाहिए।

जहाँ सच्ची बांधववृत्ति है, वहाँ संगठन सहज ही हो जाता है, और जहाँ बन्धुत्वपूर्ण सामाजिक जीवन और महामूल्यमयी स्वतंत्रता है वहीं सच्चा स्वधर्मीवात्सल्य का गुण विकसित होता है।

जहा पति-पत्नी में विचारों की विभिन्नता होती है, धार्मिक मतभेद होता है, या विभिन्न विचारों के स्वामी सेवक होते हैं, वहा विचारों का विभेद दो हृदयों के बीच पर्दे की तरह पड़ा

दृढ़ता है। वह यहाँ हृदयों के मिलन में बाधक बन जाता है। कभी इस विचारविभेद का परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है। यही कारण है कि स्वधर्मी के साथ संघर्ष करने से सम्यक्त्व आदि गुणों की वृद्धि होती है।

सारांश यह है कि स्वधर्मी भाई को देखकर हृदय में प्रेम का झरना बहने लगे और अन्न आदि आवश्यक वस्तुओं से उसकी सहायता की जाय, वह वात्सल्य गुण कहलाता है।

यह वात्सल्य गुण भी सम्यक्त्व का आधार है। इसके संबंध में जितना कहा जाय कमा ही थोड़ा है।

(८) प्रभावना—अपने धर्म के अभ्युदय के अर्थ प्रवृत्ति करना अथवा जनधर्म की प्रभावना करने वाला कार्य करना प्रभावना क ग है।

कहा भी है—

> अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथं ।
> जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥

अर्थात्—जगत में फैले हुए अज्ञान अन्धकार के विस्तार का निवारण करके जिन शासन का माहात्म्य प्रकट करना प्र ावना है।

सुनते हैं, पहले करोड़ों जनधर्मानुयायी थ। कहीं तलवार के बल पर या डरा धमका कर जन नहीं बनाया गया था। परन्तु तत्कालीन जैनों के वात्सल्य और प्रभावना गुण से प्रभावित

होकर अन्य धर्मानुयायी लोग जैनधर्मानुयायी बने थे और जैन धर्म का पालन करते थे।

आजकल भी अगर जैन लोग अपना चरित्र आदर्श बनावें और साथ ही वात्सल्य एवं प्रभावना गुण को जीवन में विकसित करें तो निस्सन्देह जैन धर्म का गौरव फिर से बढ़ सकता है। जैनों का आचार-विचार अगर विशुद्ध बन जाय और वे अन्य लोगों के साथ सहानुभूति पूर्ण व्यवहार करें तो लोग जैन धर्म के प्रति आकृष्ट होंगे और तीर्थंकरों के पवित्र मार्ग से अधिक से अधिक अपना हित साधन कर सकेंगे।

स्थानांग सूत्र के चौथे स्थान में कहा है कि प्रवचनप्रभावना के निमित्त पात्र अपात्र को दान देने वाला दाता तृतीय भंग (विकल्प) का दाता है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि कभी२ अपात्र को दान देने से भी तीर्थंकरों के मार्ग की प्रभावना होती है। अर्थात् दान के प्रभाव से अपात्र अर्थात् सूत्र-चारित्रधर्म से हीन सामान्य प्रकृति के मनुष्य को जैनधर्मानुयायी बनाया जा सकता है। इससे तीर्थंकरों का मार्ग भी उज्ज्वल हो सकता है।

पर ऐसा करने में जो खतरा है उसे भी समझ लेना चाहिए। दान देकर जैन बनाने का अर्थ यह नहीं कि किसी को घूस के रूप में दान दिया जाय और दान के प्रलोभन में फसा कर जैन बना लिया जाय। ऐसा करना आत्मवंचन होगा। दूसरे के अन्तःकरण में लालच उत्पन्न कर देना भी एक बुराई है। मेरे

कथन का आशय यह है कि किसी की वास्तविक आवश्यकताओं को समझ कर उन्हें दान कर देना और इस प्रकार उसे अपनी और अपने धर्म की ओर आकृष्ट कर लेना अनुचित नहीं पर प्रलोभन देना सर्वथा हेय है।

जैसा, लूला-लंगड़ा आदि असहाय जनों को दान देने से संसार पर जैनधर्म का प्रभाव पड़ सकता है, ऐसा दिखाई देता है। संसार पर इस प्रकार का प्रभाव डालना भी जैनधर्म की प्रभावना है।

जो लोग दान देना पाप कहते हैं, वे प्रवचन प्रभावना का ठीक२ मर्म नहीं समझते।

सूत्रधर्म के यह आठ आचार हैं। इन आठों का आचरण करने वाला पुरुष उपर्युक्त फल का सम्पादन करता है। यही आठ आचार चारित्रधर्म के भी उपकारक हैं इन आठ आचारों का पालन करने से चारित्रधर्म का पालन होता है।

९

चारित्रधर्म—आचारधर्म

[चरित्तधम्मे]

संसार की अन्य प्रजा की अपेक्षा, हमें जिस वस्तु की अधिक आवश्यकता है, वह है—चारित्र का विकास।

'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष।' जब विचार आचार के रूप में परिणत होता है तब जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। चारित्रशुद्धि ही जीवन्मुक्ति का उत्तम उपाय है।

मानव-जीवन की चरम साधना क्या है? किस लक्ष्य पर पहुँच जाने पर यह चिरयात्रा समाप्त होगी होगी? मनुष्य की अन्तिम स्थिति क्या है? यह ऐसे गूढ़ प्रश्न हैं, जिन पर विचार किये बिना विद्वान का मस्तिष्क मानता नहीं है और विचार करने पर भी उपलब्ध कुछ होता नही है। इन और ऐसे अन्य प्रश्नों का समाधान दर्शनशास्त्र के पृष्ठों पर लिखे अक्षरों से नहीं हो सकता। मस्तिष्क वहाँ काम नहीं कर सकता। जिसे समाधान प्राप्त करना है वह चारित्र की सुरम्य वाटिका में विहार करे।

कथन का आशय यह है कि किसी की वास्तविक आवश्यकताओं को समझ कर उन्हें पूरा कर देना और इस प्रकार उसे अपनी ओर अपने धर्म की ओर आकृष्ट कर लेना अनुचित नहीं पर प्रलोभन देना सर्वथा हेय है।

अंधा लूला-लंगड़ा आदि असहाय जनों को दान देने से संसार पर जैनधर्म का प्रभाव पड़ सकता है, ऐसा दिखाई देता है। संसार पर इस प्रकार का प्रभाव डालना भी जैनधर्म की प्रभावना है।

जो लोग दान देना पाप कहते हैं, वे प्रवचन प्रभावना का ठीक२ मर्म नहीं समझते।

सूत्रधर्म के यह आठ आचार हैं। इन आठों का आचरण करने वाला पुरुष सम्यक्त्व का सम्पादन करता है। यही आठ आचार चारित्रधर्म के भी उपलक्षक हैं इन आठ आचारों का पालन करने से चारित्रधर्म का पालन होता है।

९

चारित्रधर्म—आचारधर्म

[चरित्तधम्मे]

संसार की अन्य प्रजा की अपेक्षा, हमें जिस वस्तु की अधिक आवश्यकता है, वह है—चारित्र का विकास।

'ज्ञानक्रियाभ्याम मोक्षः।' जब विचार आचार के रूप में परिणत होता है तब जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। चारित्रशुद्धि ही जीवन्मुक्ति का उत्तम उपाय है।

मानव-जीवन की चरम साधना क्या है? किस लक्ष्य पर पहुँच जाने पर यह चिरयात्रा समाप्त होगी होगी? मनुष्य की अन्तिम स्थिति क्या है? यह ऐसे गूढ प्रश्न हैं, जिन पर विचार किये बिना विद्वान का मस्तिष्क मानता नहीं है और विचार करने पर भी उपलब्ध कुछ होता नहीं है। इन और ऐसे अन्य प्रश्नों का समाधान दर्शनशास्त्र के पृष्ठों पर लिखे अक्षरों से नहीं हो सकता। मस्तिष्क वहाँ काम नहीं कर सकता। जिसे समाधान प्राप्त करना है वह चारित्र की सुरम्य वाटिका में विहार करे।

चारित्र की भावना बिना मनुष्य कृतकार्य नहीं हो सकता।

जिन ज्ञानी पुरुषों ने चारित्र की वाटिका में विहार कर वहाँ के सौरभ का आस्वादन किया है और उससे मस्तिष्क की क्षमता बढ़ाई है उन सब ने एक स्वर में जीवन का चरम और परम उद्देश्य राग-द्वेष से मुक्त होना माना है। राग-द्वेष से मुक्त होने के लिए प्रत्येक मनुष्य को उनके मूल का विचार करना चाहिए और उस राग-द्वेष को निर्मूल करने के लिए पुरुषार्थ का आश्रय लेना चाहिए।

विचार, मनन, निदिध्यासन, चिन्तन आदि श्रुतज्ञान के पर्यायवाची शब्द हैं और आचार प्रयत्न पुरुषार्थ आदि चारित्र-धर्म के पर्यायवाचक शब्द हैं।

'पढमं नाणं तओ दया' 'ज्ञानं सम्यक् क्रिया बिना' 'ज्ञान-क्रियाभ्याम् मोक्षः' इत्यादि आप्तसूत्र मुक्ति प्राप्त करने के लिए श्रुतधर्म और चारित्र धर्म के साहचर्य की घोषणा करते हैं।

श्रुतधर्म के संबन्ध में पहले विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। चारित्रधर्म—आचारधर्म के विषय में विचार करना है।

चारित्रधर्म का सामान्य अर्थ है आचारधर्म और आचारधर्म का मतलब है—संयमशीलता या क्रियाशीलता। व्यक्तियों में त्यागी और गृहस्थ के दो वर्ग दिखाई देते हैं। अतएव उनकी स्थिति के अनुसार आचारधर्म भी दो वर्गों में बाँटा गया है। कोई कोई आचारधर्म का पूर्णरूपेण पालन करते हैं और कोई आंशिक रूपेण।

आचारधर्मको संपूर्ण रूपसे पालने वाले त्यागी या अनगार कहलाते हैं और आंशिक रूप से पालने वाले अगारी, गृहस्थ या श्रावक कहलाते हैं।

सूत्रकारों ने चारित्रधर्म के मुख्यतया दो विभाग किये हैं–

चरित्तधम्मे दुविहे पण्णत्ते; तंजहा-अणगारचरित्तधम्मे, आगारचरित्तधम्मे य।– स्थानांगसूत्र.

अर्थात्=अनगार–त्यागी का आचारधर्म और गृहस्थ का आचारधर्म, इस प्रकार चारित्रधर्म दो प्रकार का है।

त्यागी-धर्म

सूत्रकारों ने संक्षेप में त्यागी का धर्म दस प्रकार का बतलाया है—दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते, तंजहा—

(१) खंती (२) मुत्ती (३) अज्जवे (४) मद्दवे (५) लाघवे (६) सच्चे (७) संजमे (८) तवे (९) चियाए (१०) बम्भचेरवासे।

अर्थात्–श्रमणधर्म–त्यागीधर्म दस प्रकार का है। वह इस प्रकार—

(१) क्षमा–अगर कोई अप्रिय एवं कटुक वचन कहे या प्रतिकूल व्यवहार करे तो भी क्षमा रखना–क्रोध न करना।

(२) मुक्ति–बाह्य और आन्तरिक बन्धनों से मुक्त रहना।

(३) आर्जव–मन, वचन, काय की कुटिलता का परित्याग कर ऋजुता–सरलता धारण करना।

(४) मार्दव—अहंवृत्ति का त्याग कर मृदुता धारण करना।

(५) आर्जव—आन्तरिक और बाह्य क्रोध मान माया, लोभ का आत्यन्तिक त्याग करके लघुता धारण करना—झूठे बड़प्पन से दूर रहना।

(६) सत्य—सत्यवादी बनना—असत्य, अप्रिय, संदिग्ध अस्पष्ट और गोलमोल वचन न बोलना।

(७) संयम—संयम धारण करना—इंद्रियदमन करना।

(८) तप—अनशन आदि बाह्य तपस्या तथा प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तरिक तपस्या करना।

(९) त्याग—त्याग परायण बनना—इन्द्रिय के विषयभोगों के प्रति विरक्ति धारण करना।

(१) ब्रह्मचर्य—ब्रह्मचर्यमय जीवन यापन करना।

इस प्रकार के इस श्रमणधर्म में पाँच महाव्रत पाँच समिति तीन गुप्ति सत्तरह प्रकार का संयम, बाईस परीषह, सत्ताईस साधुगुण आदि-आदि साधु के विशेष धर्म का संक्षेप में समावेश किया गया है। इन दस धर्मों को—क्या हिन्दू और क्या

---

*धृतिक्षमादमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

बौद्ध-प्रायः सभी धर्मावलम्बियों ने न्यूनाधिक रूप में स्वीकार किया है। पर जैन मुनियों को इन धर्मों का दृढ़ता पूर्वक पालन करना पड़ता है, जब कि अन्यत्र इतनी सख्ती नहीं देखी जाती।

गृहस्थधर्म

गृहस्थ धर्म को दो विभागों में विभक्त किया गया है। एक सामान्य धर्म, दूसरा विशेष धर्म।

गृहस्थ का सामान्यधर्म

गृहस्थ का सामान्यधर्म जैन ग्रन्थों के ही शब्दोंमें उद्धृत करना उचित होगा। वह इस प्रकार है—

१ सामान्यतो गृहस्थधर्मो न्यायतोऽनुष्ठानमिति

न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना गृहस्थ का सामान्यधर्म है।

२ न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोकहितायेति।

न्याय से उपार्जित धन इस लोक में भी हितकर होता है और परलोक में भी।

३ तथा समानकुलशीलादिभिर्गोत्रजैरेव वाह्यम्।

गृहस्थ को समान कुल, समान शील तथा भिन्न और अच्छे गोत्र में उत्पन्न होने वालों के साथ ही विवाह सबन्ध करना चाहिए।

४शुद्धकलत्रलाभफलो विवाहस्तत्फलं च सुजातसुतसन्ततिः अनुपहतचित्तनिवृत्तिः गृहकार्यसुविहितत्वं, अभिजात्याचार विशुद्धत्व, देवातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं चेति।

विवाह का फल कुलीन-पवित्र स्त्री की प्राप्ति होना है। कुलीन स्त्री की प्राप्ति का फल है-चित्त की स्वस्थता सुचारु रूप से गृह कार्य सम्पन्न होना, आचार की शुद्धता और देव, अतिथि, बन्धु जन आदि का यथोचित सत्कार करना।

(५) तथा उपप्लुतस्थानत्याग इति।
उपद्रव-जनक स्थान में न रहना।

(६) तथा आयोचितो व्यय।
गृहस्थ को आमद के अनुसार खर्च करना चाहिए।

(७) तथा प्रसिद्धदेशाचार पालनमिति।
गृहस्थ को अपने देश के आचार का पालन करना चाहिये।

(८) तथा मातृ-पितृपूजेति।
गृहस्थ को माता-पिता धर्मगुरु आदि का आदर सत्कार करना चाहिए।

(९) तथा सात्म्यतः कालभोजनमिति।
गृहस्थ का शरीर की रक्षा-नीरोगता के लिए यथा-समय भोजन करना चाहिए।

(१०) तथाऽभ्यायामस्वापस्नानभोजनस्वच्छन्दवृत्तिकालानामा-परम्यात्।
गृहस्थ को शौच व्यायाम निद्रा स्नान भोजन

आदि नित्य कृत्यों का शरीर रक्षा के निमित्त कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

(११) शरीरायासजननी क्रिया व्यायामः।

शरीर को परिश्रम उत्पन्न करने वाली क्रिया 'व्यायाम' कहलाती है।

(१२) शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलेत्।

शस्त्र-वाहन-दण्ड-बैठक आदि के अभ्यास से व्यायाम सफल होता है।

(१३) आदेहस्वेदं व्यायामं कान्तमुशन्त्याचार्याः।

आचार्यों का कथन है कि शरीर में पसीना आने तक व्यायाम करना उचित है।

(१४) अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निप्रदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च।

जो लोग व्यायाम नहीं करते उनकी अग्नि प्रदीप्त कैसे हो सकती है? उनमें उत्साह कहां से आयगा? उनकी देह सुदृढ कैसे होगी?

(१५) श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलम्।

थकावट, पसीना और आलस्य का नाश होना स्नान का फल है।

(१६) स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनम् ।
गृहस्थों के लिए स्वच्छन्दवृत्ति–स्वाधीनता परम रसायन है।

यहाँ स्वच्छन्दवृत्ति को उच्छृंखलता के भाव में ग्रहण करना उचित नहीं है। स्वच्छन्दवृत्ति का अर्थ—स्व–आत्मा के छन्द–चिन्तन में, वृत्ति–विचरना है।

गृहस्थ को आत्मा के हित के निमित्त देव, गुरु और धर्म का सेवन अवश्य करना चाहिए। क्योंकि उनके लिए यही अद्वितीय शांति स्थान है। इसकि सेवन से सच्ची शांति प्राप्त होती है और यही सांसारिक दुःख का निवारण करने के लिए परम औषध है।

गृहस्थ जब उल्लिखित मार्गानुसारी रूप सामान्य धर्मों का यथोचित पालन करता है, तभी वह गृहस्थ के विशेष धर्म का पालन करने में समर्थ होता है। लगभग इन्हीं नीति रूप गुणों का उल्लेख अन्यत्र इस प्रकार किया गया है—

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्,
अन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः ।
युक्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥

अर्थात्—श्रावक न्यायपूर्वक धनोपार्जन करे, गुणों में बड़ों का सत्कार–सम्मान करे, मधुर व प्रशस्त वाणी का प्रयोग

करे, एक दूसरे से विरोध न करते हुए धर्म, अर्थ, काम का सेवन करे, अपने योग्य गृहिणी और स्थान वाला हो, लज्जाशील हो, उचित आहार-विहार करे, आर्य पुरुषों की संगति करे, हिताहित का विवेकी हो, कृतज्ञ हो, इन्द्रियों को और मन को वश में रक्खे, दयावान् हो, पापभीरु हो और धर्मोपदेश का श्रवण करता हुआ श्रावक धर्म का पालन करे।

गृहस्थ का विशेष धर्म

जीवन को संस्कारमय बनाने के लिए सर्व प्रथम नैतिक गुणों की आवश्यकता है। नीति की नींव पर ही धर्म का महल खड़ा किया जा सकता है। अतएव नीति-गुणों को जीवन में स्थान देना गृहस्थ का सामान्य धर्म है। और नीति-गुणों के साथ ही साथ बारह प्रकार के धार्मिक गुणों का ध्यान देना गृहस्थ का विशेष धर्म है।

धर्म प्रधानतः श्रद्धा की वस्तु है। श्रद्धा के बिना धर्म का पालन नहीं होता। अतः गृहस्थ को शंका-कांक्षा आदि धर्मबुद्धि का नाश करने वाले दोषों को दूर करके, विश्वासपूर्वक धर्मपालन में दृढ़ बनना चाहिए।

धर्मश्रद्धा को सुदृढ़ बनाने के बाद गृहस्थधर्म को जिन बारह व्रतों का पालन करना चाहिए, उनका संक्षिप्त स्वरूप यह है—

(१) अहिंसाव्रत—

थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं—स्थूल प्राणातिपात से विरत होना। गृहस्थ को इस प्रकार यत्ना-सावधानी से प्रत्येक कार्य करना चाहिए जिससे किसी मनुष्य, पशु पक्षी या अन्य त्रस जीव को कष्ट न पहुँचे। अपने चित्त में किसी त्रस जीव को कष्ट पहुँचाने या उसका प्राण हरण करने का संकल्प उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। वध, बंध आदि हिंसात्मक प्रवृत्तियों से बचते हुए प्रत्येक कार्य करना चाहिए। यह गृहस्थ का अहिंसा-व्रत है।

(२) सत्यव्रत—

थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं—स्थूल असत्यभाषण से विरत होना अर्थात् गृहस्थ जिस बात को जिस रूप में जानता या मानता हो उसी रूप में वह दूसरे से कहे। मान की आवश से या भय आदि की भावना से उस बात में तनिक भी फेरफार न करे। लोकभय नरिक निगलता लोकैषणो आदि दुर्गुणों को दूर रखकर हँसी दिल्लगी पराई निन्दा कोरी गप्पों आदि प्रयोजन हीन बातोंमें अपनी वाणीका दुरुपयोग न करे। इस प्रकार वचन संबन्धी असत्प्रवृत्ति से निवृत्त होकर सत्प्रवृत्ति करना गृहस्थ का सत्य व्रत है।

(३) अचौर्यव्रत—

थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं—स्थूल अदत्तादान से विरत होना। अर्थात् जिस वस्तु पर, जिस मनुष्य पर, जिस

अधिकार पर अथवा जिस यश-कीर्ति पर वास्तविक अधिकार न हो उस वस्तु आदि को नीति का भंग करके न लेना। किसी की किसी वस्तु पर अपना अनुचित अधिकार न जमाना और चोरी न करना गृहस्थ का अचौर्य व्रत है।

(४) ब्रह्मचर्यमर्यादा व्रत-स्वपत्नीसन्तोषव्रत

थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं—स्थूल मैथुन से विरत होना। अर्थात गृहस्थ को अपने वीर्य का अपनी और दूसरों की अनेक प्रकार की उन्नति में उपयोग करना चाहिए। पाशविक वृत्तियों के पोषण में वीर्य का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। वीर्य वह शक्ति है जिसके प्रताप से उच्च श्रेणी के अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, यह बात ध्यान में रखते हुए अखड ब्रह्मचारी बनने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए। अगर इतना सभव न हो तो अपने विचारों के अनुरूप सहधर्मिणी खोजकर, उसी में सतुष्ट रहना चाहिए। अगर ऐसा कोई पात्र न मिले जो परस्पर अनुकूल रहकर एक दूसरे के विकास में सहायक हो तो अविवाहित रहने का ही प्रयत्न करना चाहिए। विवाहित जीवन, जो चहुं ओर दौड़ने वाली मनोवृत्तियों को नियंत्रित-केन्द्रित करने के लिए उपयोगी है, अगर दोनों में से किसी एक को असतोष का कारण बन जाय तो दुहरा हानिकारक हो जाता है। अतएव विवाहित जीवन बनाने से पहले अपनी शक्ति, अपने साधन, अपने विचार, अपनी स्थिति और पात्र की योग्यता, इन सब बातों का विचार

कर लेना उचित है। विवाह करना मनुष्य का मुख्य नियम है और अविवाहित रहना अपवाद है इस धारणा को बदलने की आवश्यकता है। अविवाहित रहते हुए स्व पर का अभ्युदय-साधन करना और यदि मन प्रबल बाधों की अनुकूलता हो तभी विवाह करना चाहिए, यह नियम मानव-समाज के लिए अधिक से अधिक हितकर है। विवाहित जीवन को विषय वासना की मर्यादाहीन स्वतंत्रता के रूप में भूलकर भी न समझना चाहिए। विवाह का उद्देश्य विषय भोग में डूबना नहीं है, वरन् विषय वासना से विरत होना है।

गृहस्थ को विषयवासना का सकोच और आत्मिक ऐक्य करना सीखना चाहिए और अश्लील शब्दों से अश्लील दृश्यों से और अश्लील कल्पनाओं से दूर रहना चाहिए।

जो विवाह के उद्देश्य को नहीं समझते और न एक दूसरे के प्रति अपने सहचरता के पवित्र कर्तव्य को ही पहचानते हैं, उन अज्ञान व्यक्तियों को आपस की गुलामी की स्थिति में डालने वाला व्यक्ति चौथे व्रत का भंग करता है दया का खून करता है। इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह में सजग रहना यह गृहस्थ का चौथा व्रत है।

(५) परिग्रहमर्यादा-इच्छापरिमाण व्रत।

थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं—स्थूल परिग्रह से विरत होना। अर्थात्-गृहस्थ को परिग्रह का अथवा ममत्व का या तृष्णा का संकोच करना चाहिए। 'मैं सभी कुछ भोगूं, मैं करोड़पति बनूं,

मैं महलो का मालिक बनूं , इस प्रकार अहंकार मय, स्वार्थमय, संकीर्ण विचारों को यथासंभव दूर करना चाहिए।

इस व्रत का उद्देश्य यह नहीं है कि-घर-द्वार छोड़कर फकीर बन जाओ, भूखे मरो या कुटुम्ब का भरण-पोषण न करो।' पर इसका उद्देश्य यह है कि लोभ, मोह, ममत्व और जड पदार्थो की प्राप्ति में ही आनन्द मनाने की वृत्ति का त्याग करो। अपने आश्रितों की आवश्यकताएं पूर्ण करने के लिए प्रमाणिकता को त्याग कर अप्रामाणिकता का आश्रय न लो। अपनी इच्छा को सीमित करो। इच्छाओं के पीछे पीछे अविराम गति से दौड न लगाओ, वरन इच्छा को अपने अधीन बनाओ। परिग्रह में जितनी कम मूर्छा होगी, चित्त शान्ति उतनी ही अधिक प्राप्त होगी। इस प्रकार परिग्रह-बुद्धि का त्याग कर संतोष वृत्ति धारण करना गृहस्थ का परिग्रहमर्यादा व्रत है।

(६) दिशापरिमाण व्रत।

दिशापरिमाण—दिशाओं संबन्धी मर्यादा करना। अर्थात गृहस्थ को निष्प्रयोजन, निरुपयोगी, परमार्थहीन भ्रमण, जितना कम हो सके उतना कम करना चाहिए।

(७) भोगोपभोगमर्यादा व्रत।

भोग-उवभोगपरिमाण—भोगों और उपभोगों का परिमाण करना। अर्थात् गृहस्थ को भोजन आदि भोगों की लालसा मर्यादित करनी चाहिए।

गृहस्थ को आदत से सादा, आत्मसंयमी, नियमित और मिताहारी बनना चाहिए।

आवश्यकताएं जितनी ही कम होंगी, चिन्ताएँ, उपाधियाँ तालप आर परेशानी उतनी ही कम होंगी और महत्त्वपूर्ण) प्रवृत्तियों को तरफ ध्यान देने का अधिक अवकाश मिलेगा।

बड़ाबड़ी व्यापारी का भ्रान्त विचार अल्पम विज्ञान की मूलतापूर्ण लोलुपता और गुण-दोष को समझने की बुद्धि का अभाव, यह सब ऐसी बातें हैं जिनसे अनेक आवश्यक कर्मियों और आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन आवश्यकताओं से शारीरिक शिथिलता, मानसिक अपवित्रता और बुद्धिहीनता पैदा होती है। अतएव सच्ची आवश्यकता के अनुसार ही उप भोग-परिभोग रखना उचित है-अधिक नहीं। अपनी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक भोगोपभोग की सामग्री न रखना गृहस्थ का भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

८ अनर्थदंड त्याग—

अणट्ठादंड वेरमणं—अनर्थदंड से विरत होना। अर्थात् गृहस्थ को निरर्थक व्यापार में-प्रवृत्ति में-मन, वचन, काया को लगाना उचित नहीं है। इसी प्रकार प्रयोजनहीन खटपट में, निन्दा में दुर्ध्यान में चिन्ता में, कुकर्म में; खेद में तथा भय में शरीर-सम्पत्ति धन सम्पत्ति तथा संकल्पसम्पत्ति का दुरुपयोग करना भी उचित नहीं है। क्योंकि आर्त्तध्यान की चिन्ता और रौद्रध्यान या किसी पर क्रोधमय विचार करना नीच काम है-आनन्दमय-वीरतामय आत्म-प्रभु का द्रोह करने के समान है। ऐसे कृत्यों

से मनुष्यत्व का ह्रास होता है। इसलिए अनर्थदंड का त्याग करना अर्थात् निरर्थक प्रवृत्ति से आत्मा को दण्डित न करना गृहस्थ का व्रत है।

(६) सामायिक व्रत—

गृहस्थ को प्रतिदिन नियमित समय पर समभाव सीखने का अभ्यास करना चाहिए।

सामायिक सच्ची शक्ति प्रदान करने वाली वस्तु है। जिस समय सच्ची सामायिक की जाती है उस समय आत्मा राग-द्वेष आदि विकारों से रहित हो जाता है। निरन्तर गति से राग-द्वेष चलते रहने से आत्मा की शक्ति क्षीण होती है और आत्मा निकम्मा बन जाता है। जो मनुष्य रात-दिन परिश्रम करता है उसकी कार्यक्षमता जल्दी नष्ट हो जाती है, परन्तु समय पर गाढ़ निद्रा लेने वाला नुकसान से बच जाता है। यही बात सामायिक के विषय में समझनी चाहिए। जो मनुष्य थोड़े समय के लिए भी राग-द्वेष त्याग देता है, उसके आत्मा में अपूर्व ज्योति प्रकट होती है। वह शान्ति का आनन्द अनुभव करता है।

सच्ची सामायिक के मूल्य में चिन्तामणि और कल्पवृक्ष भी तुच्छ हैं और वस्तुओं की तो बात ही क्या है ?

संसार में आज लड़ाई-झगड़े तेजी से बढ़ रहे हैं। पति-पत्नी पिता-पुत्र, देवरानी-जिठानी, भाई-भाई, समाज-समाज, सब के सब सामायिक के अभाव में लड़ रहे हैं। लोग अगर अस्त-

प्रसंग में सामायिक या ध्यान में तो इन कषायों का शीघ्र अन्त आ सकता है।

दो घड़ी रोज विज्ञान का अध्ययन करने वाला महाविज्ञानी बन जाता है, दो घड़ी रोज अभ्यास करने वाला महा-पंडित बन जाता है इसी प्रकार यदि आप दो घड़ी नित्य सामायिक में खर्च करेंगे तो आपको अपूर्व शान्ति मिलेगी और महा-कल्याण का लाभ होगा।

मन को मजबूत बनाकर उसे अच्छी सामायिक में लगाइए। अगर आप संसार-भ्रमण को काटना चाहें और महान व्याधियों से ग्रस्त आत्मा को उबारना चाहें तो महावीर की बताई हुई इस अमूल्य सामायिक रूपी महौषध का सेवन कीजिए।

समत्व प्राप्त करना ही सामायिक का प्रधान उद्देश्य है। प्रश्न उठ सकता है—समत्व की पहचान क्या है? उत्तर होगा—सुख-दुःख में शान्ति का अनुभव होना ही समत्व की पहचान है। जिस सामायिक के द्वारा ऐसा अलौकिक शान्ति-सुख मिलता है उसके आगे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष किस गिनती में हैं?

सामायिक में बैठ करके भी जो अपने भाग्य को कोसता है, तुच्छ वस्तुओं के लिए भी आठ-आठ आँसू गिराता है, उसे कुछ लाभ नहीं होता। ऐसी सामायिक करने और न करने में ज्यादा अन्तर नहीं है।

सामायिक के समय श्रावक को समस्त सावद्य अर्थात् पाप-

मय क्रियाओं से निवृत्त होकर निरवद्य अर्थात् निष्पाप क्रिया ही करनी चाहिए। इस प्रकार सावद्य क्रिया का त्याग कर समभाव प्राप्त करने का अभ्यास करना श्रावक का सामायिक व्रत है।

(१०) देशावकाशिक व्रत—

क्षेत्र या देश सबन्धी मर्यादा करना देशावगासिक व्रत है। गृहस्थ को यथासभव स्वदेश से बाहर से मंगाई हुई वस्तु का उपभोग नहीं करना चाहिए। स्वदेशप्रेम और स्वदेशाभिमान रखना और स्वदेश को भूखे मरने में साधनभूत न बनना भी गृहस्थ का देशावकाशिक व्रत है।

(११) प्रतिपूर्ण पौषधव्रत—

गृहस्थ को प्रतिमास, कम से कम एक बार, जब अवकाश या सुभीता हो और मानसिक तथा शारीरिक स्थिति अनुकूल हो तब निराहार रहना चाहिए, जिससे शरीर निरोग और सहनशील बने। इस स्थिति में चौबीस या बारह घन्टे आत्मरमण करते हुए व्यतीत करने चाहिए। इस व्रत के लिए विशेषत अष्टमी, चतुर्दशी या पूर्णिमा रूप पर्व-तिथियाँ अधिक उपयुक्त हैं।

(१२) अतिथिसंविभाग व्रत—

गृहस्थ को अपने उपकारी पुरुषों की सेवा-भक्ति करने का प्रसग मिले तब उल्लासपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिए। जो पुरुष जगत् का उपकार करने में ही अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं जिन्हें अपने शरीर की सार सभाल करने तक की फुर्सत

नहीं मिलती उनके मस्तिष्क आरोग्य और प्रवृत्ति की जगत् को अत्यन्त आवश्यकता होने से उनकी आवश्यकताएँ जानना और उन्हें पूर्ण करने में तत्पर रहना उपकृत वर्ग का कर्त्तव्य है।

उन्होंने जिस मिशन को उठाया है, उसे निभाने के लिए आवश्यक शारीरिक स्वास्थ्य, समय, बुद्धि, परिश्रम आदि के द्वारा जिससे जैसा बन सके उनकी कठिनाइयों संकटों और दुःखों को सहानुभूति के साथ दूर करने का जितना बन सके उतना प्रयास करना उनके सुख में अपना और समाज का सुख मानना, यह गृहस्थ का अतिथिसंविभाग व्रत है।

इस प्रकार नैतिक धर्म—सामान्य धर्म— के साथ व्रतधर्म—विशेष धर्म का पालन करने में गृहस्थ जीवन का विकास और साफल्य है।

व्रतधर्म के पालन से गृहस्थ जीवन को सुसंस्कृत बनाने के बाद श्रमणधर्म का स्वीकार करके राष्ट्र, समाज और धर्म का कल्याण-साधन करते हुए आत्मकल्याण के लिए त्यागमय जीवन व्यतीत करने में ही मानव जीवन की चरम सफलता है।

मानव-जीवन को सफल बनाने के लिए चारित्रधर्म—आचार धर्म का पालन करना अत्यावश्यक है। सभी धर्मों में एक मत से आचारधर्म की आवश्यकता स्वीकार की गई है।×

×श्रावक के आचारधर्म पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ श्री का नव साहित्य [illegible] प्रकाशित हो चुका है। जिज्ञासु पाठक उसे [illegible] देखें।

१०

जीवनधर्म

[अत्थिकाय धम्मे]

'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं ण केणइ।'

'समस्त प्राणियों के प्रति मेरा बन्धुभाव है। मेरा किसी के साथ वैर-विरोध नहीं है।' यह विश्वबन्धुत्व ही जीवन का आदर्श है।

अस्ति शब्द का मूल सत् शब्द है। सत् अर्थात् होना। जीवन का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाना अस्तिकाय धर्म है। इसे जीवनधर्म भी कहा जा सकता है। सत्प्रवृत्तियों के द्वारा जीवन को सत्यमय बनाना, सत्य का साक्षात्कार करने के लिए सदा उद्योग करते रहना जीवन का वास्तविक धर्म है।

जो व्यक्ति संस्कारिता, नागरिकता, राष्ट्रीयता आदि धर्म-गुणों को अपने जीवन में ताने-बाने की तरह बुन लेता है वही व्यक्ति जीवनधर्म-आत्मधर्म को सांगोपांग जीवन में उतार सकता है।

जीवनधर्म का मर्म सममनेका अर्थ है आत्माको पहचानना। ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, आदि धर्म जीवन के अंग-उपांग हैं। जहां तक समानता का आदर्श जीवन में नहीं उतरता वहाँ तक आत्मा की पहचान नहीं होती। और समानता का आदर्श जीवन में उतारने के लिए सब से पहले जीवन में मानवता प्रकट करनी पड़ती है। जब मानवता प्रकट होती है तब मानवका प्रेम मंत्र बन जाता है–मैं मानव हूँ। मुझे मानवता समझनी चाहिए और मानव के लिए ही जीवित रहना चाहिए क्योंकि सभी धर्म महान् हैं किन्तु मानवधर्म इन सब में महान् है।

जिसके जीवन में, रग-रग में मानवता व्याप जाती है वह मानता और समझता है कि धर्म मात्र मानव के लिए हैं। मानव को अधिक संस्कारी–अधिक सुन्दर अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए धर्म है। अतएव जहाँ धर्म का पालन करने में मानव के प्रति अन्याय होता हो वहाँ धर्म को साधन रूप मानकर उसमें पुनः-योजना करना उचित है।

तमाम धर्म मानवधर्म सीखने का साधन हैं। जो धर्म मानव के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करता है, मनुष्य को मनुष्य से जुदा करना सिखलाता है, मानव को तुच्छ समझना सिखलाता है वह धर्म नहीं है। धर्म में ऐसी बातों को स्थान नहीं है।

मनुष्य धर्म का पालन करता है सो इसलिए नहीं कि वह उसके द्वारा ऊँचा उत्थान की कोशिश करे, बल्कि इसलिए कि

वह वास्तव में ऊँचा बने। धर्म-पालन का उद्देश्य यह उत्कृष्ट मनोदशा प्राप्त करना है, जिसमें विश्ववन्धुत्व का भाव मुख्य होता है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ ण केणई' अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्रीभाव-बन्धुभाव है, किसी के साथ मेरा वैर-विरोध नहीं है। जैसे सच्ची महत्ता सादी होती है उसी प्रकार यह महान मानवधर्म भी सरल और सादा है। इसे एक ही वाक्य 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' में प्रकट किया जा सकता है।

तुम्हारे लिए जो अनिष्ट है वह दूसरेके लिए भी अनिष्ट है। अगर तुम सड़ा पानी नहीं पी सकते तो दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं पी सकता। अगर तुम अपनी बीमारी में दूसरों की सहायता चाहते हो तो दूसरा भी यही चाहता है।

अगर मनुष्य इतना सीधा-सादा मानवधर्म समझ ले और अपने समस्त साधन इस धर्म का विकास करने के लिए मान ले तो फिर धर्म सबन्धी अधिक ज्ञान इसी में से उसे मिल जायगा धर्म सबन्धी विधि-विधान खोजने के लिए उसे इधर-उधर नहीं भटकना पड़ेगा। मानवधर्म इतना सादा है कि उसे घड़ी भर में सब सीख सकते हैं, फिर भी मानवधर्म में रहने वाली गहनता इतनी उदार और भव्य है कि वह जीवन भर की शुद्धि की माँग करती है। जीवनधर्म का आदर्श विकारों को जीतना और विश्व-बन्धुता सीखना है।

आत्मा को पहचानना अथवा जीवन धर्म का मर्म समझ

लेना म ल काम नहीं है। क्योंकि मानवसमाज युग युगान्तर से, वासनाओं, महालसा, मम्मुखता, मच्छा आदि आन्तरिक शत्रुओं द्वारा बाह्य शत्रुओं की अपेक्षा कहीं अधिक पीड़ित है, अतः इन विर्ध उन वासनाओं पर विजय प्राप्त करना साधारण मनुष्य के लिए सरल नहीं है। आत्मविजय के लिए जीवनारम्भ काल की क्षमता, धर्म, अहिंसा, त्याग, दान तप आदि आत्मिक बल की अपेक्षा है। आत्मबल के अभाव में जीवन-युद्ध नहीं लड़ा जा सकता। अतएव आत्मबल के द्वारा पुरुषार्थ पूर्वक जीवन-युद्ध करके विकार-शत्रुओं को पराजित करके, दुर्दम आत्मा का दमन करना लाखों सुभटों को जीतने की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। संसार को आत्मविजय का शंखनाद सुनाने वाला और स्वतन्त्रता का राजमार्ग दिखलाने वाला शक्ति-धर्म ही जैनधर्म कहलाता है।

जीवन में अनन्त प्रकट करना आत्म-गवेषणा की मूल भावी है, क्योंकि जैनधर्म विश्वविजेता का धर्म है, आत्मविजय करके सिद्ध बुद्ध और मुक्त हुए विश्वविजयी अरिहंत वीरों का विजय धर्म जैनधर्म है। युद्ध में वीरता दिखाकर, विजेता के रूप में अरिहंत वीर प्रसिद्ध हैं, मगर उनकी विशेष प्रसिद्धि और महत्ता तो इस बात में है कि उन्होंने जीवन संग्राम में वासना आदि आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी; और विजयधर्म-जैनधर्म

× जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं एस से परमो जओ ॥ उत्तराध्ययन ॥

का प्रचार किया था। ससारको आत्म-स्वातन्त्र्य का विजय-नाद सुनाने वाले ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक, चौबीस तीर्थकरों ने जगत् के जीवों को बन्धनों से मुक्त होने का-स्वतन्त्र बनने का, जो विजयमार्ग बतलाया है वही विजयमार्ग जैनधर्म है। भगवान ऋषभदेव तथा महावीर आदि तीर्थकरों ने आत्मविजय के जो मन्त्र जगत् को सिखलाए उनका सक्षिप्त सार यह है—

(१) पहला विजयमन्त्र— स्वतन्त्र बनो, स्वतन्त्र बनाओ और स्वतन्त्र बने हुए महापुरुषों के चरणचिन्हों पर चलो।

(२) दूसरा विजयमन्त्र—पराधीन मत बनो, पराधीन मत बनाओ, पराधीन का पदानुसरण मत करो।

(३) तीसरा विजयमन्त्र—सघशक्ति को सुदृढ बनाओ।

(४) चौथा विजयमन्त्र—सघ शक्ति को पुष्ट बनाने के लिए विवेक बुद्धि का उपयोग करो, कदाग्रह बुद्धि के स्थान पर समन्वय बुद्धि को स्थान दो।

(५) पांचवा विजयमन्त्र—अपनी आत्मिक शक्ति में दृढ़ विश्वास रक्खो, बाहर की लुभावनी शक्ति का भरोसा मत करो। विजय की आकाक्षा मत त्यागो और विजय प्राप्त करते चलो।

उल्लिखित विजयमन्त्रोंके आधार से जैन धर्मका मुख्य सिद्धांत

दुःख कौन चाहता है ? सभी सुख चाहते दिखाई देते हैं। तो शाश्वत सुख की अभिलाषा करने वाले को कर्मों की पराधीनता हटानी चाहिए। सुख-दुख मनुष्य के हाथ में है। कृत कर्म के अनुसार सुख-दुख की प्राप्ति होती है। कोई अलौकिक शक्ति सुख-दुख नहीं देती। कर्म के प्रताप से ही आत्मा दुखी होती है। ज्यों-ज्यों कर्म क्षीण होता चलता है त्यों आत्मा सुखी बनती जाती है।

(३) संघशक्ति-संघधर्म—जीवनसंग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए ऐक्यबल या संघशक्ति की परमावश्यकता है। ऐक्यबल के बिना जीवन की साधना दुष्कर हो जाती है, अतएव संघशक्ति की बड़ी आवश्यकता है। संघबल एकत्र करना आत्म-विजय प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है।

(४) समन्वयबुद्धि-अनेकान्तवाद—अपने विरोधियों को काबू में करने का और साथ ही उनके प्रति न्याय करने का अमोघ साधन अनेकान्तवाद है। वह विरोधी पक्ष को समझने समझाने का और अपने पक्ष को परिपूर्ण एवं सुदृढ बनाने का सबल साधन है। अनेकान्तवाद अपने विरोधियों को भी अमृतपान कराकर अमर बनाता है। अनेकान्तवाद को सीधी-सादी भाषा में विवेक-बुद्धि या समन्वयबुद्धि कहा जा सकता है। विवेक की गैर-मौजूदगी में धर्म, अधर्म बन जाता है और अनेकान्त दृष्टि के अभाव में भी धर्ममय कृत्य, अधर्ममय बन सकता है। अनेकांत विचार-वृक्ष का सुफल है। अनेकान्तवाद जैनधर्म की विशेषता

है, फिर भी संसार का कोई विचारक उसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं कर सकता।

अनेकान्तवाद अज्ञान का अंधकार दूर करके ज्ञान का प्रकाश करता है। इससे विजय प्राप्त होती है। अहिंसा और अनेकान्तवाद का संगम आत्मविजय के लिए अनिवार्य है।

(२) आत्मविश्वास—विजयकांक्षी बन कर आत्मविश्वास पूर्वक प्रयत्न करना आत्मविजय का मूल मंत्र है। आत्मविश्वास को जैन परिभाषा में 'सम्यक्त्व' कहा जाता है। विश्वास के अभाव में आत्मविजय होना संभव नहीं है। आत्मशक्ति में संपूर्ण विश्वास के साथ प्रवृत्ति करते चलने में ही आत्मविजय है। बाहर की किसी भी शक्ति का भरोसा रख कर प्रवृत्ति करने से आत्मविजय प्राप्त नहीं हो सकती। याद रखो कोई भी बाह्य-शक्ति तुम्हारे भीतर प्राप्त नहीं हो सकती।

जिसे आत्मविश्वास प्राप्त है वह विश्वविजेता बन सकता है। जो धर्म विश्वविजय का ऐसा अमोघ विजय-मन्त्र सिखलाता है, वह धर्म किसी एक देश का नहीं मानव मात्र का—संपूर्ण जगत का धर्म हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

जिस धर्म का अनुसरण आत्मा जैसी अगम-अगोचर वस्तु का वैज्ञानिक दृष्टि से साक्षात्कार कराता है, वह धर्म जगत् को विश्वधर्म एवं निर्वैरवृत्ति के द्वारा स्नेह के सूत्र में बांध दे और वैज्ञानिक सत्य का सम्यक्तापूर्वक अन्वेषण करके जगत् को नवीन आविष्कारों से चकित करे, यह स्वाभाविक है।

इस प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में विश्वबन्धुत्व अर्थात् 'जैनत्व' प्रकट हो जाता है वह जीवनधर्म-आत्मधर्म को साक्षात् करता है। वह अनखोजे की खोज करके और खोजे हुए को जीवन के साथ एकरस करके आत्मशुद्धि प्राप्त करता है।

सर्वे सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

सब जीव सुखी हों। सब जीव निरोग हों। सब का कल्याण हो। कोई दुःख का भागी न हो। जीवनधर्म का यह ध्येय मन्त्र है।

शास्त्र में अस्तिकाय धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी गई है

अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायो राशि-रस्ति कायः । स एव धर्मो गतिपर्याये जीवपुद्गलयोर्धारणादित्यस्तिकाय - धर्मः ।

अर्थ-प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहते हैं; तद्रूप जो धर्म है वह जीव और पुद्गल को गतिपर्याय में धारण करता है, इसलिए अस्तिकाय धर्म कहलाता है।

यहाँ टीकाकार ने पाँच अस्तिकायों में से केवल धर्मास्तिकाय को ही अस्तिकाय धर्म गिनाया है।

श्री भगवतीसूत्र में नाम के साधर्म्य से धर्म और धर्मास्तिकाय को पर्यायवाची गिना है। इसी कारण टीकाकार ने भी यहाँ अस्तिकायधर्म में धर्म। शब्द के साथ धर्मास्तिकाय को ही उदाहरण स्वरूप बतलाया है। धर्मास्तिकाय को धर्म का सहधर्मी बताने का एक कारण यह भी हो सकता है कि धर्मास्तिकाय गति-सहायक द्रव्य है। अतएव कर्म का नाश करने में धर्मास्तिकाय की भी सहायता अपेक्षित है। शायद इस अभिप्राय से शास्त्रकार ने धर्म और धर्मास्तिकाय को एक गिना हो।

पूर्ति

परिशिष्ट (१)

धर्म और भ्रम

(१)

[इन वचनों को ठीक तरह समझने के लिए यहाँ जो परिशिष्ट दिये जा रहे हैं उनमें से अधिकांश संकलित हैं और कुछ नवीन लिखे गये हैं। आशा है पूर्वोक्त वचनों की संकलना समझने में यह सहायक होंगे]

जैसे खान में सोने के साथ मिट्टी मिली रहती है वैसे ही धर्म के साथ लोकभ्रम मिला रहता है। धर्म का व्यापक अर्थ सनातन संकल्प अथवा नियम है। जलाना अग्नि का धर्म है। भूख लगना प्राणी मात्र के देह का धर्म है। बालक को प्यार करना माता का धर्म है। बहुमति के आधीन होना संघ का धर्म है। इन्द्रियों पर विजय करना आत्मा का धर्म है। रक्षण करना हृदय का धर्म है। परन्तु यह समस्त सिद्धान्तों में न्यूनाधिक परिमाण में धर्म का रूप ही सर्व परिचित होता है।

मौलिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक सम्बन्धों के यथार्थ दर्शन पर धर्म की रचना की गई है।

जब तक मनुष्य इन शाश्वत नियमों को समझ नहीं लेता तब तक वह झूठी कल्पनाएं करता रहता है। उन्हीं को धर्म मान बैठता है।

अग्नि की ज्वाला शान्त होने पर जैसे अग्नि मे से धुआँ निकलता है उसी प्रकार जब मनुष्यबुद्धि और मनुष्यहृदय जड़ बन जाता है और आत्मजागृति मद हो जाती है, तब इस तरह भ्रम उत्पन्न होते हैं।

नास्तिकता के पानी से लोकभ्रम रूपी हृदय की अग्नि शान्त करना सच्चा उपाय नहीं है। सच्चा उपाय यह है कि ऐसे अवसर पर जिज्ञासा और अनुभव की फूक से धार्मिकता सचेत की जाय और धर्म की ज्योति फिर जाज्वल्यमान की जाय।

धर्मशिक्षण और धर्म के गहरे चिन्तन-मनन से लोकभ्रम का नाश और धर्म का उदय होता है। अज्ञान और भय-लालच धर्म के कट्टर शत्रु हैं क्योंकि धर्म का नाश करने वाला लोकभ्रम अज्ञान और भय से ही उत्पन्न होता है।

ऋषि-मुनि या धर्मसस्थापक जब तक अपनी श्रद्धा और अपने अनुभव की बात कहते हैं, जब तक उनमें शुद्ध सत्य अथवा सनातन धर्म का वास होता है, परन्तु जब वे अथवा उनके अनुयायी जितने अश में अपनी रूढ मान्यताओं और कल्पनाओं को

क्षीण और विकृत होता जाता है; और धर्म का क्षीण तथा विकृत रूप अधर्म के समान ही हानिकर होता है। धर्म को चैतन्य और प्रज्वलित रखने का काम धर्मैकपरायण व्यक्ति ही कर सकते हैं।

धर्म का अंतिम आधार मनुष्यहृदय है। धर्मजिज्ञासा और धर्मविचार मनुष्य का स्वभाव है, इस कारण सब कालों और सब दिशाओं में, विकास की मर्यादा के अनुसार मनुष्य के हृदय में धर्म का आविर्भाव हुआ है। यह हृदयधर्म कितना ही कलुषित या मलिन क्यों न हो, पर उसकी मूल वस्तु शुद्ध है। अशुद्ध सोना पीतल नहीं है और पीतल चाहे जितना शुद्ध, चमकदार और बढ़िया घाट का हो, फिर भी वह सोना नहीं है। कोरी बुद्धि के बल पर खड़ा किया गया, लोगों में रहे हुए राग-द्वेष से लाभ उठा कर चालू किया गया और थोड़े-बहुत लोगों का स्वार्थपोषण करने वाला धर्म, धर्म नहीं है। असंस्कारी हृदय की क्षुद्र वासना और दंभ से उत्पन्न होने वाली विकृति को छिपाने वाला, शिष्टाचार या चतुराई के साथ तर्क से किया जाने वाला बचाव भी धर्म नहीं है। अज्ञान, भोलापन और अंधश्रद्धा, इन तीन दोषों से कलुषित धर्म, अधर्म की कोटि पर पहुँच जाय तो बात जुदी है और जो मूल से ही धर्म नहीं है किन्तु सिफ्त से जो धर्म का रूप धारण करता है, यह बात भी अलग है। मानव-इतिहास में धर्म के उपर्युक्त दोनों प्रकार पर्याप्त परिमाण मे मिल सकते हैं, किन्तु इन दोनों बातों का पृथक्करण करके उनका यथार्थ स्वरूप पहचानने का कष्ट अब तक मनुष्य ने नहीं उठाया है।

रहना स्वीकार करेगा, तब तक राजधानी और उसकी व्यवस्था भी अनिवार्य रहेगी। यह सब होने पर भी मानवजाति का मुख्य केन्द्र तो ग्राम ही है, क्योंकि खेती के साथ ग्राम का सजीव संबंध है।

यूरोप में औद्योगिक प्रगति के नाम पर इस स्वाभाविक स्थिति को बदल कर देश देशान्तरों के साथ संबंध जोड़कर खेती के बदले कारखानों को अधिक महत्व दिया गया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि गांव एकदम वीरान-ऊजड़ होगये और जहां तहां छोटे नगर बसने लगे। नागरिक, गावों का सार भी अपनी ओर खींच लेजाने लगे।

नगर ग्रामों की आवश्यकता की पूर्त्ति करने के बदले आज उन्हीं को आजीविका का साधन बना बैठा है। इतना ही नहीं, पर अपनी आजीविका की पूर्त्ति ग्रामों से होती है इसलिए ग्राम को जीवित रखा जा रहा है। कृत्रिम स्थिति के कारण मानव-समाजका आरोग्य। उसकी आयु, उसका चरित्र और उसकी संतोष वृत्ति को भारी आघात पहुंचा है। इस आघात को दूर करने और ग्रामों को पुनः सजीवन करनें में ही मानवसमाज का कल्याण है।

ग्रामधर्म का पालन करने से ही ग्रामो की पुनः प्राणप्रतिष्ठा की जा सकती है। ग्रामधर्म का पालन करने से ग्राम फिर सजीव हो उठेंगे।

का बुढ़ापा दूर होना आवश्यक है। समाज में उत्साह और उत्थान आना चाहिए। धर्मसंस्करण के बिना यह बात बन नहीं सकती, इसलिए और सब बातें छोड़कर पहले गांवों में धर्म-संस्करण का यथायोग्य प्रयत्न करना चाहिए।

गांवों में जिस धर्म का पालन होता है, उसमें भय, घूस, देववाद और जंत्र-मंत्र वाला कर्मकाण्ड ही मुख्य होता है।

—काका कालेलकर

परिशिष्ट ३

नगरधर्म

फ्रांसीसियों की

मानव तथा नागरिक अधिकार घोषणा

(१) समाज का हेतु सार्वजनिक कल्याण है। स्वाभाविक तथा कालाबाधित अधिकारों के उपभोग की मनुष्य को खातिरी देने के लिए राज्य की स्थापना की गई है।

(२) यह अधिकार समानता, स्वतन्त्रता, सुरक्षा तथा स्वत्व है।

(३) मनुष्य मात्र प्रकृति और कानून की नजरों में समान हैं।

(४) कानून, सामान्य इच्छा का स्वतन्त्र और गंभीर उद्गार है। रक्षा करने और दण्ड देने में वह सब के लिए एक है। वह

न्यायसंगत और समाजहितकारी बात के सिवाय किसी और चीज का विधान नहीं कर सकता, तथा समाज के लिए अहित-कर चीज के सिवाय किसी और का निषेध नहीं कर सकता।

(५) समस्त नागरिक सार्वजनिक नौकरियों में समान रूप से प्रवेश के पात्र हैं। स्वतन्त्र प्रजा अपनी पसंदगी के लिए सुशीलता और सुमति को छोड़कर और किसी आधार को जानती ही नहीं है।

(६) स्वतंत्रता अर्थात् जिससे दूसरों को हानि न पहुँचे, वह सब करने की मनुष्य की सत्ता। प्रकृति स्वतंत्रता की जननी है, न्याय उसका नियम है, कानून उसका रक्षक है; उसकी नैतिक मर्यादा इस न्याय में है कि—दूसरों का जो व्यवहार तुम अपने लिए पसंद नहीं करते, वह व्यवहार तुम दूसरे के प्रति मत करो।

(७) समाचारपत्रों द्वारा या किसी भी अन्य उपाय द्वारा अपना विचार-अपना अभिप्राय प्रकट करने के अधिकार की, शान्तिपूर्वक सभा करने की धर्म का निर्णय आचरण करने की मनाई नहीं हो सकती।

(८) सुरक्षितता अर्थात् अपने शरीर, अपने अधिकार और अपने स्वत्व का बचाव करने के लिए समाज अपने प्रत्येक अंग-भूत व्यक्ति को आश्वासन है।

(९) राज्यकर्ताओं के अत्याचार से सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करना कानून का कर्त्तव्य होना चाहिए।

(१०) मनुष्य की सम्मति बिना उसकी जायदाद में से थोड़ा सा भी लिया नहीं जा सकता।

(११) सर्वोपरि सत्ता जनता में अधिष्ठित है, वह एक अविभाज्य, कालावाधित और अदेय है।

(१२) अपने विधान को फिर जाँचने, सुधारने और बदलने का अधिकार प्रजा को सदैव प्राप्त है। एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को अपने कानूनों के अधीन नहीं कर सकती।

(१३) कानून बनाने और प्रतिनिधि निर्वाचित करने में सम्मति देने का प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार है।

(१४) अत्याचार का विरोध करना, यह मनुष्य के दूसरे अधिकारों से फलित होता है।

(१५) राज्यकर्त्ता जब प्रजा के अधिकारों का उल्लघन करे, तब प्रजा के लिए और प्रजा के प्रत्येक अंग के लिए, बलवा करना परम पवित्र अधिकार और परम अनिवार्य धर्म है।

('राजकथा' से)

परिशिष्ट ४

राष्ट्रधर्म के मुख्य अंग

[चीन राष्ट्र के नेता डा सन-यात-सेन के राष्ट्रीय सिद्धांत]

राष्ट्र और प्रजा

(१)

प्रजा का राष्ट्र—राष्ट्र प्रजा के सहारे जीवित है, अतएव वह प्रजा का है। प्रजा का पालन पोषण करना राष्ट्र का धर्म है और

राष्ट्र को समृद्ध बनाना प्रजा का धर्म है। राष्ट्र और प्रजा दोनों अभिन्न हैं। प्रजा की कुशलता से राष्ट्र कुशल होता है और प्रजा की सबलता से राष्ट्र सबल बनता है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। प्रजा की एकता, रक्त-ऐक्य, भाषा-ऐक्य, धर्मविचार-ऐक्य, मन-ऐक्य, गुणकर्म-ऐक्य आदि प्राकृतिक शक्तियों पर अवलंबित है और प्रजा की एकता पर राष्ट्र की एकता निर्भर है।

प्रत्येक प्रजा में अपने राष्ट्र की भावना, राष्ट्रीय आत्मा राष्ट्रीय स्वभाव और राष्ट्रीय सजगता अवश्य होनी चाहिए क्योंकि प्रजा की राष्ट्रीय भावना में ही राष्ट्र का उत्थान है। प्रजा में अगर राष्ट्रीय भावना न हो अथवा वह कृशप्राय हो गई हो तो राष्ट्र का अधःपतन अवश्यंभावी है।

जिस प्रजा-संघ में संगठन है उस प्रजा का राष्ट्र अजेय है, अमर है। इतिहास इस बात का साक्षी रहा है।

प्रजा की शक्ति

(२)

राज्यसत्ता का पूरा-पूरा अधिकार प्रजा के हाथ में है। यही बात महर्षियों एवं चीनी महर्षि मेनसियस ने कही थी—'प्रजा सब से अधिक मूल्यवान है, तत्पश्चात् मंदिर और फिर अंत में राजा-महाराजा।'

परन्तु इतिहास से एकदम उल्टी बात मालूम होती है। स्वेच्छाचारी राजाओं और सम्राटों ने हमेशा प्रजा के अधिकारों का अपहरण किया है और करते आये हैं।

प्रजासत्र द्वारा राज्य का संचालन होना चाहिए, यह वर्त्तमान युग की आवाज है। अतएव हम लोग वर्त्तमान युगको प्रजातन्त्र का युग कह कर पहचानते हैं। प्रजातन्त्र के लिए अनेक विद्रोह हुए हैं। उनमें अमेरिका का स्वातन्त्र्य युद्ध और फ्रांसकी राज्यक्रांति का सफलता में प्रधान भाग है। पर उन्होंने राज्यक्रांति की सफलता के लिए खून खच्चर किया था और रक्त की नदियां बहाई थीं।

क्या अमेरिका और फ्रांस की मारकाट द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका आदर्श चीनके लिए आदर्श है? आदरणीय है? नहीं कदापि नहीं। मारकाट द्वारा स्वातन्त्र्य–प्राप्ति का आदर्श चीन राष्ट्र की प्राचीन संस्कृति और चीनी प्रजा की मनोवृत्ति से सर्वथा विरुद्ध है। मध्य युगसे ही यूरोपमें राजाओं तथा सम्राटोंके अत्याचार अनाचार तथा धार्मिक दमन इतना अधिक फैल गया था कि जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई थी। अतएव यूरोप की प्रजा स्वतन्त्रता को अत्यन्त प्रिय और पवित्र मानने लगी। उसे पानेके लिए प्राणों की भी परवाह नहीं की। उसका प्रधान स्वर था हमें स्वतन्त्रता दो या मौत दो!' पर उनकी स्वतन्त्रता वैयक्तिक थी, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता नहीं थी। ऐसी वैयक्तिक स्वतन्त्रता चीनमें अत्यन्त प्राचीन काल में भी थी पर राष्ट्रीय स्वतन्त्रताके आगे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की कीमत

जरा-सी भी नहीं है। अतएव चीन की प्रजा को अब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बलिदान करना पड़ेगा। इस समय चीन राष्ट्र का आदर्श वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं वरन् राष्ट्र की पूर्ण स्वाधीनता है। प्रजा ही राष्ट्र को शक्ति प्रदान कर सकती है। इसलिए राष्ट्र का कार्य व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए राष्ट्रशक्ति पाँच भागों में विभाजित कर देनी चाहिए—(१) शासन (२) विधान (३) न्याय (४) परीक्षा (५) निरीक्षण। राष्ट्रशक्ति को इस प्रकार व्यवस्थित रूप देने से राज्यव्यवस्था सुन्दर होगी और उसके फलस्वरूप राष्ट्र और प्रजा में मित्रता कायम रह सकेगी।

एक ओर शासनयंत्र सुदृढ़ हो और दूसरी ओर शासनयंत्र चलाने वाली प्रजा भी बलवान बने तो शासनशक्ति, राजतन्त्र और प्रजा के बीच बराबर मैत्री रह सकेगी। शासनशक्ति की इस प्रकार व्यवस्था होने पर प्रजा-संघ पूर्ण प्रजातन्त्र प्राप्त कर सकता है।

परिशिष्ट ५

व्रतधर्म की आवश्यकता

व्रत अर्थात् अटल नियम। कठिनाइयों को जीतने के लिए व्रतों की आवश्यकता है। कठिनाई सहन करने पर भी जो भंग न हो वही अटल नियम गिना जाता है। सारे संसार का अनुभव इस बात की साक्षी देता है कि ऐसे अटल नियम के बिना

मनुष्य ऊपर ही नहीं चढ़ सकता। पाप रूप प्रवृत्ति का निश्चय व्रत नहीं कहलाता, यह राक्षसी वृत्ति है। हां, कोई निश्चय पुण्य रूप जान पड़ा हो और अन्त में पाप रूप सिद्ध हो तो उसे त्यागना अवश्य धर्म है। पर ऐसी वस्तु के विषय में कोई व्रत नहीं लेता-नहीं लेना चाहिए। जो धर्म सर्वमान्य गिना गया हो और जिसका आचरण करने की टेव न पड़ी हो उसी के संबन्ध में व्रत होता है। सत्य कहने से किसी को हानि पहुँच जाय तो? सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता। सत्य से, ससार में न किसी को हानि हुई है, न होगी, ऐसा सत्यवादी को विश्वास होना चाहिए। 'देह जाय या रहे मुझे तो धर्मकापालन करना ही है' ऐसा भव्य निश्चय करने वाला ही किसी समय परमात्मा की झलक पा सकता है। व्रत का ग्रहण करना कमजोरी का सूचक नहीं है, उल्टा बल-सूचक है। अमुक बात करना उचित है, तो करना ही, इसका नाम है व्रत, और इसमें बल है। भले ही इसे व्रत शब्द न कह कर किसी और शब्द से कहा जाय। इसमें कोई हानि नहीं है। 'जहां तक बन पड़ेगा करूंगा' ऐसा कहने वाला अपनी कमजोरी तथा अभिमान का प्रदर्शन करता है वह भले ही इसे नम्रता कह कर प्रगट करे, पर इसमें नम्रता की गंध तक नहीं है। 'जहां तक बन पड़ेगा' यह वचन शुभ निश्चयों में जहर के समान हैं, यह सत्य मैंने अपने जीवन में और बहुतों के जीवन मे देखा है 'जहां तक बन पड़ेगा' अर्थात् पहली कठिनाई आते ही पतित हो जाना। 'जहां तक बन पड़ेगा सत्य का पालन करूंगा' इस वाक्य

का कुछ अर्थ ही नहीं है। व्यापार में 'जहाँ तक बन पड़ेगा' अमुक तारीख पर, अमुक रकम भर देने की चिट्ठी स्वीकार ही नहीं की जा सकती। इसी प्रकार जहाँ तक बन पड़ेगा, वहाँ तक सत्य पालने वाले की हुण्डी ईश्वर की दूकान पर नहीं सकारी जा सकती।

ईश्वर स्वयं निश्चय-व्रत की सम्पूर्ण मूर्ति है। उसके कानून में से एक भी अणु खिसक जाय तो वह ईश्वर ही न रहे। सूर्य महाव्रतधारी है, इसलिए जगत् का कालनिर्माण होता है और शुद्ध पंचांग की रचना हो सकती है। उसने ऐसी साख जमा दी है कि वह सदैव उगा है और सर्वदा उगता रहेगा और इसी कारण हम अपने को सुरक्षित मानते हैं। व्यापार मात्र का आधार एक टेक पर अवलम्बित है। अगर व्यापारी एक दूसरे के प्रति बँधे न हों तो व्यापार चल नहीं सकता। इस प्रकार व्रत सर्व व्यापक वस्तु मालूम होती है। व्रत के विषय में हमारे मन में कभी शंका उठनी ही नहीं चाहिए।

—महात्मा गाँधी।

परिशिष्ट-ड

गण धर्म

प्राचीन भारत का शासन गणराज्य का था। राजा और प्रजा [illegible] था। राजा के हित में प्रजा अपना हित

मानती थी और प्रजा के हित में राजा अपना हित समझता था। इस प्रकार राज्यशासन भलीभांति चलता था। राज्यशासन सुव्यवस्थित चलने में एक मुख्य कारण था-गणधर्म की प्रतिष्ठा गणधर्म को आज की भाषा में प्रजासत्तात्मक शासनप्रणाली कह सकते हैं। राजा भी प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। अतएव एक तरह से प्रजा अपना शासन आप करती थी। इस प्रजासत्तात्मक शासनप्रणाली से गणराज्यों की ऋद्धि-सिद्धि अत्यन्त समृद्ध बनी थी और गण-राज्यों का आपसी संबंध बहुत गाढा था।

शासन की सुव्यवस्था के लिए गणराज्यों के प्रतिनिधि संथागार Town hall में प्राय मिलते रहते थे और विचारविनिमय करके प्रजाहित के उपायों की योजना करते थे।

भगवान महावीर के समय में, भारतवर्ष में गणधर्म की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उस समय किसी के हाथ में, सर्वोपरि निरकुश सत्ता नहीं थी। तब बिखरे हुए अनेक छोटे-मोटे राज्य थे। बड़े-बड़े राज्य राजसत्ताक और छोटे-छोटे राज्य गणसत्ताक थे।

राजसत्ताक* राज्यों मे मगध का राज्य, कोसल का राज्य, वत्स का राज्य, अवन्ति का राज्य-इस तरह चार राज्य मुख्य जान पड़ते हैं। गणसत्ताक राज्यों में लिच्छविवंशीय, वज्जिवंशीय, कोलिवंशीय, ज्ञातृवंशीय, मल्लवंशीय आदि क्षत्रियों के गणराज्य मुख्य थे। गणसत्ताक राज्य उस समय लगभग अठारह की संख्या

* देखो-'Buddhist India' by Rhys davids ch I II

थे। और इन गणराज्यों में मुख्यतः वैशाली, कुण्डपुर, कपिलवस्तु, कुशीनारा और पावा आदि स्थान मुख्य थे।

गणतन्त्र राज्यों का संगठन सुन्दर था। राज्यव्यवस्था सुव्यवस्थित थी और राजा प्रजा के बीच सम्मान की भावना थी। यह बात जैनागमों और बौद्धागमों से भलीभाँति प्रगट है।

इन सब गणतन्त्र राज्यों के गणनायक, वैशाली के अधिपति राजा चेटक थे, जो भगवान महावीर के संसार पक्ष के मामा होते थे।

इन राजतन्त्र और गणतन्त्र राज्यों के विषय में प्रज्ञापना सूत्र और सूत्रकृतांग सूत्रों की टीका से अनेक विशेष बातें मालूम हो सकती हैं, जहाँ साढ़े पच्चीस आर्य देशों के नाम का उल्लेख किया गया है। अंगुत्तरनिकाय नामक बौद्धागम में भी सोलह देशों की गणना करते हुए इन देशों का उल्लेख किया गया है।

गणतन्त्र राज्यों में कितना सुन्दर संगठन था, यह जानने के लिए हमें प्रसिद्ध लड़ाई का वर्णन पढ़ना चाहिए, जो मगधराज अजातशत्रु (कौणिक) द्वारा, अपने हल-विहल्ल नामक भाइयों के प्रति किये गये भारी अन्याय का विरोध करने के लिए, महाराज चेटक ने अठारह गणराजाओं की सहायता से की थी। वह 'रथमूसल' तथा 'महाशिलाकंटक' नाम का युद्ध अत्यन्त विख्यात था। वह युद्ध गणराज्यों के सुदृढ़ संगठन का जीता-जागता प्रमाण है।

परिशिष्ट ७

संघ संगठन के साधन

जिनशासन की भांति बुद्धशासन में भी संघयोजना के सम्बन्ध में सुन्दर विचार किया गया है। संघयोजना में वह विचार बहुत उपयोगी हैं। अतएव यहां कुछ विचारों का उल्लेख कर देना उचित होगा।

संघसंगठन

सुखो बुद्धानमुप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना ।
सुखा संघस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखं ॥

अर्थात्-बुद्धों का जन्म सुखकर है। सद्धर्म की देशना सुख-कारक है। संघ की सामग्री-संगठन सुखकारक है और संगठित होकर रहने वाले भिक्षुओं का तप सुखकारक है।

संघसंगठन की उपयोगिता और उसके लाभ

'एकधम्मो भिक्खवे ! लोके उपज्जमानो उपज्जति बहु-जनहिताय, बहुजनसुखाय, बहुनो जनस्स अत्थाय, सुखाय, देवमनुस्सानं। कतमो एकधम्मो ? संघस्स सामग्गी। संघे खो पन भिक्खवे ! समग्गे न चेव अञ्ञमञ्ञे भण्डनानि होन्ति, न च अञ्ञमञ्ञं परिभासा होन्ति, न च अञ्ञमञ्ञं

परिक्लेसा होन्ति, न च अञ्ञमञ्ञं परिच्चजना होन्ति, तत्थ अप्पसन्ना चेव पसीदन्ति, पसन्नानञ्च भीयोभावो होतीति।'

अर्थात्–हे भिक्षुओ ! लोक में एक धर्म देखा है, जिसे सिद्ध करने से बहुत लोगों का कल्याण बहुत लोगों का सुख, तथा देव और मनुष्य सहित बहुत लोगों का कल्याण, सुख और इच्छित अर्थ सिद्ध होता है।

'वह धर्म कौन-सा है ?'

'संघ का संगठन।'

भिक्षुओ ! संघ का संगठन होने से परस्पर कलह-भगड़ नहीं होता परस्पर अपशब्द-गाली गलौज-का व्यवहार नहीं होता परस्पर आक्षेप-विक्षेप नहीं होता परस्पर परित्यजना नहीं होती। इस प्रकार संघ का संगठन होने से अप्रसन्न भी प्रसन्न हो जाते हैं (हिलमिल कर रहने लगते हैं) और जो प्रसन्न हैं उनमें खूब सद्भाव उत्पन्न होता है।

संघसंगठन-साधक की सिद्धि

सुखा संघस्स सामग्गी, सम्मग्गानञ्च अनुग्गहो।
समग्गरतो धम्मट्ठो योगक्खेमा न धंसति॥
संघं समग्गं कत्वान, कप्पं सग्गम्हि मोदति।

अर्थात्-संघ की सामग्री-संगठन सुखकारक है। संगठन में रहने वालों की सहायता करने वाला, धर्म में स्थिर रहने वाला और संगठन साधने वाला भिक्षु योग-क्षेम से च्युत नहीं होता और संघ का संगठन करके वह भिक्षु कल्प काल पर्यन्त स्वर्ग-सुख भोगता है।

संघभेद का दुष्परिणाम

एक धम्मो भिक्खवे ! लोके उपज्जमानो उपज्जति बहु जनाहिताय, बहुजनासुखाय, बहुनो जनस्स अनत्थाय, अहिताय' दुक्खाय देवमनुस्सानं, कतमो एक धम्मो ? संघभेदो। संघे खो पन भिक्खवे ! भिन्ने अञ्ञमञ्ञं भण्डनानि चेव होन्ति, अञ्ञमञ्ञं परिभासा च होन्ति, अञ्ञमञ्ञं परिक्खेपा च होन्ति, अञ्ञमञ्ञं परिच्चजना च होन्ति, तत्थ अप्पसन्ना चेव न प्पसीदन्ति, पसन्नानञ्च एकच्चानं अञ्ञथत्त होन्तीति।

अर्थात्—'भिक्षुओ! लोक में एक धर्म ऐसा है जिसे उत्पन्न करने से बहुत लोगोंका अकल्याण बहुत लोगोंका असुख और देव मनुष्य सहित बहुत लोगों को अनर्थ, अकल्याण और दुःख उत्पन्न होता है।

'वह कौनसा धर्म है ?'

'संघभेद'

'भिक्षुओ ! संघ में फूट डालने से आपस में कलह होता है, आपसमें गाली-गलौज होता है, आपसमें मिथ्या आक्षेप होते हैं। आपस में परिभर्त्सना होती है। आपस में असमझ हुए लोग इससे मिलते नहीं हैं और भिक्षुक लोगों में भी अन्यथाभाव-असद्भाव पैदा होता है।

संघभेदक की दुर्गति

आपायिका नेरयिका, कप्पट्ठा संघभेदका
वग्गारामा अधम्मट्ठा योगक्खेमतो धंसति ॥
संघं समग्गं भित्वान कप्पं निरयम्हि पच्चतीति।

अर्थात्—संघ में फूट डालने वाला अधर्मी कल्प वर्ष पर्यन्त नरक में निवास करता है, निर्वाण से विमुख होता है और संघ में फूट पैदा करके कल्पकाल तक नरक में पचता है।

संघसंगठन के साधन

छहिमे भिक्खू धम्मा सारणीया पियकरणा गरुकरणा संगहाय, अविवादाय, सामग्गिया एकीभावाय संवत्तन्ति। कतमे छ ?

(१) इध भिक्खवे ! भिक्खुनो मेत्तं कायकम्मं रहो च।

(२) इध भिक्खवे ! भिक्खुनो मेत्तं वचीकम्मं रहो च।

(३) इध भिक्खवे ! भिक्खुनो मेत्तं मनोकम्मं रहो च।

(४) भिक्खवे ! भिक्खू ये ते लाभा धम्मिका धम्म-लद्धा अन्तमसो पत्तपरियापन्नमत्तंऽपि तथा रूपेहि लाभेहि अप्पटिविभक्तभोगी होति सीलवन्तेहि स ब्रह्मचारी हि साधारणभोगी।

(५) भिक्खवे ! भिक्खु यानि यानि सीलानि अखण्डानि अच्छिद्दानि असबलानि अकम्मासानि भुजिस्सानि विञ्ञुप्पत्थानि अपरामट्ठानि समाधिसंवत्तनिकानि सीलेसु सीलसमन्नागतो विहरति सब्रह्मचारीहि आवी चेव रहो च।

(६) भिक्खवे ! भिक्खु याऽयं दिट्ठि अरिया निय्यानिका निय्याति तक्करस्स सम्मादुक्खक्खयाय तथारूपाय दिट्ठियादिट्ठिसमन्नागतो विहरति सब्रह्मचारीहि आवी चेव रहो च।

अर्थात्—यह छः वस्तुएँ स्मरणीय, प्रेम बढ़ाने वाली और आदर बढानेवाली हैं और वह संग्रह, अविवाद, सामग्री (एकता) और एकीकरण में कारण हैं—

(१) प्रत्यक्ष और परोक्ष में मैत्रीमय कायकर्म।

(२) प्रत्यक्ष और परोक्ष में मैत्रीमय वाचा-कर्म।

(३) प्रत्यक्ष और परोक्ष में मैत्रीमय मन कर्म।

(४) धर्मानुसार मिली हुई वस्तुओं का साधार्मिकों में बंट-वारा करके उनके साथ आप उपभोग करना।

(५) प्रत्यक्ष और परोक्ष में अपना शीलाचार अखण्ड, अछिद्र, अशबल, अकलुषित भुजिष्य (स्वतन्त्र) सुप्रशस्त, अपरामृष्ट और समाधिसंवर्तनिक रखना और

(६) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष में जिस दृष्टि के द्वारा सम्यक प्रकार से दुःख का नाश होता है उस आर्य नैर्याणिक दृष्टि से संयम होकर व्यवहार करना।

महात्मा बुद्ध ने संघ की व्यवस्था के लिए जिन साधनों का उपदेश दिया है, वे किसी भी संघ के लिए उपयोगी हो सकते हैं। हमारा संघ भी उनसे लाभ उठा सकता है। संघधर्म का पालन करने के लिए इन नियमों की ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

परिशिष्ट ८

चा रि त्र–ध र्म

बुद्ध का गृहस्थधर्म—दस शील धर्म

परिग्रह से युक्त गृहस्थ के लिए केवल भिक्षु धर्म के अनुसार बर्ताव करना शक्य नहीं है। श्रावक जिस बर्ताव से 'सश्रावक' कहलाता है वह गृहस्थ का व्रत मैं कहता हूँ—

उसे प्राणहानि नहीं करनी चाहिए और न करानी चाहिए। समस्त भूतों के प्रति, फिर चाहे वह स्थावर हो या जँगम हो, दण्डबुद्धि का-हिंसावृत्ति का त्याग करना चाहिए।

'तत्पश्चात् विवेकशील श्रावक को किसी भी वस्तु की चोरी करने वाले को उत्तेजन नहीं देना चाहिए, इस प्रकार सम्पूर्ण अदत्तादान का त्याग करना उचित है।

समझदार श्रावक को धधकते हुए, सुलगते हुए कोयलों की खाई के समान अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिए, अगर ब्रह्मचर्य का पालन अशक्य हो तो कम से कम परदारागमन तो नहीं ही करना चाहिए।

'सभा में परिषद् में अथवा बिना समूह के, जब दूसरे से बोले तब असत्य न बोले, दूसरे से असत्य न बुलवावे, और असत्य बोलने वाले को उत्तेजन न दे। इस प्रकार सब असत्य का त्याग करना चाहिए।'

'जो गृहस्थ बुद्ध का धर्म पाले वह मद्यपान न करे, दूसरे को मद्यपान न करावे और मद्यपान करने वाले को उत्तेजन न दे, मद्य को उन्मादकारक समझ कर छोड़ देना चाहिए।

क्योंकि मद्य के नशे में मूर्ख लोग पापाचरण करते हैं और दूसरे लोगों को भी प्रमत्त बनाते हैं। पाप का आयतन, उन्माद-कारक, मोहकारक और मूर्खप्रिय इस कृत्य को निषिद्ध समझना चाहिए।'

'प्राणघात न करना, चोरी न करना, असत्य भाषण न करना, मद्यप न होना, अब्रह्मचर्य और स्त्रीसंग से विरत होना और अकाल में अर्थात् रात्रि में भोजन न करना।

'माला धारण न करना, चंदन न लगाना; खाट पाट पर या जमीन पर सोना, दुःख के पार पहुँचे हुए बुद्ध द्वारा प्रकाशित यह आठ उपोसथ हैं, ऐसा कहते हैं।

और 'यह अष्टांग वाला, सुसंपन्न उपोसथ प्रति पक्ष में चतुर्दशी पूर्णिमा और अष्टमी के दिन तथा यथाऋतु में प्रसन्न मन से पालना चाहिए।

तदनन्तर उपोसथ के दूसरे दिन प्रातः में उस ज्ञ पुरुष को प्रसन्न चित्त से भिक्षु संघ का अनुमोदन करके भिक्षुओं में यथायोग्य अन्न और पान बाँटना चाहिए।

धर्मभाग से माता-पिता का पालन करना और धार्मिक रीति से व्यापार करना चाहिए। अगर गृहस्थ सावधानी के साथ इस प्रकार वर्ते तो वह सद्गति पाता है।

सुत्तनिपात-२६२—४ ४

— — —

अन्तर्गत यथार्थ दीपक। माता और मान की रक्षि एक ही है।

धर्म और धर्मनायक

(उत्तरार्ध)

स्थविरधर्म—नायकधर्म

न तेन थेरो सो होति येनस्स पलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो त्ति वुच्चति ॥
यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संजमो दमो ।
स वे वन्तमलो धीरो सो थेरो त्ति पवुच्चति ॥

अर्थात्—सिर के बाल सफेद हो जाने से अथवा वयोवृद्ध (बूढ़ा) हो जाने से ही कोई 'स्थविर' नहीं कहलाता, क्योंकि वह अकाल-जीर्ण है । हाँ जिसके हृदय में अहिंसा, संयम, दम आदि का वास है, जो निर्मल-निर्दोष और धीर है वही सच्चा स्थविर-धर्मनायक कहलाता है ।

—o—

धर्म और धर्मनायक

(उत्तरार्ध)

विषयप्रवेश

स्थविरधर्म

अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः ।

जिस समूह का कोई नायक—नेता नहीं होता उसकी दुर्गति होती है और जिस के बहुत नायक होते हैं उस समूह की भी दुर्गति हो जाती है ।

प्रत्येक धर्म समाज और राष्ट्र को नेता की परम आवश्यकता रहती है । नेता ही किसी समूह की शक्ति को पुंजीभूत करता है, नेता ही राष्ट्रीय या धार्मिक मत को अभिव्यक्त करता है और नेता ही राष्ट्रीय सामाजिक या धार्मिक शक्ति को गति देता है और उसमें समता उत्पन्न करता है ।

सच्चा नेता वह है जो धर्म समाज और राष्ट्र का पथप्रदर्शक हो और उनके कार्यव्यापारों एवं विचारों का नियंत्रण करता है ।

१

ग्रामस्थविर --- ग्रामनायक

[गामथेरा]

भारतवर्ष का उद्धार उसके साढ़े सात लाख गाँवों को सजीव बनाने में है। यह छोटे-छोटे ग्राम भारतवर्ष की मूल संस्कृति के धाम हैं।

ग्रामस्थविर शब्द शास्त्रीय है। बोलचाल में उसे गाँव का मुखिया, गाँव का पटेल या गांव का नेता कह सकते हैं। गाव के अन्दर जो दुर्व्यवस्था या अव्यवस्था चल रही हो उसे दूर करके उसके स्थान पर सुव्यवस्था स्थापित करना ग्रामनायक का मुख्य कर्त्तव्य है।

दुर्व्यवस्था क्या है और सुव्यवस्था क्या है? यह जान सकना साधारण मनुष्यके लिये सरल नहीं है। इसे ठीक ठीक वही मनुष्य समझ सकता है जिसको इस सम्बन्ध का अच्छा अनुभव हो,और जिसे पूर्वोक्त दस धर्मों की सांकलकी प्रत्येक कड़ी का पूरा

जो पुरुष साधु-जीवन व्यतीत करता है, जिसकी वृत्तियाँ सादी हैं, जो सत्य की साक्षात् मूर्ति है, नम्र है, जो मदोन्माद पास नहीं फटकने देता, वह पुरुष वास्तव में धर्मात्मा-धर्मपुरुष धर्मनायक है। ऐसे धार्मिक पुरुषको शास्त्रकार 'स्थविर' कहते हैं। 'स्थविर' शब्द ज्ञान दर्शन, चारित्र आदि गुणों से संपन्न पुरुष के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। पूर्वोक्त दस धर्मों की सुव्यवस्था के लिए शास्त्रकारों ने दस स्थविरों की स्थापना की है।

जैनशास्त्रों में दस धर्मों का विधिवत् पालन कराने के लिए निम्नलिखित दस स्थविरों-धर्मनायकों का विधान किया गया है:-

(१) ग्रामस्थविर (२) नगरस्थविर
(३) राष्ट्रस्थविर (४) प्रशास्तास्थविर
(५) कुलस्थविर (६) गणस्थविर
(७) संघस्थविर (८) जातिस्थविर
(९) सूत्रस्थविर (१०) संघस्थविर (पर्यायस्थविर

इन दस-विध स्थविरों की अलग-अलग संक्षिप्त व्याख्या यहाँ की जायगी।

वस्थापक की आवश्यक्ता रहती है जो सब प्रकार की अव्य-वस्थाओं को दूर करके सुव्यवस्था स्थापित करे।

आज गावों में स्थविर- ग्रामसेवक बहुत ही कम हैं। इस कारण ग्रामोद्धार का महत्वपूर्ण कार्य व्यवस्थित नहीं हो रहा है। ग्रामनायक अगर ग्रामोद्धार के कार्य में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग करे तो नगरोद्धार और राष्ट्रोद्धार होने में विलम्ब न लगे। ग्राम का उद्धार करने में ग्रामनायक का क्या स्थान है, यह बात बड़ी विस्तृत है। पर नीचे लिखे बौद्ध शास्त्रीय उदाहरण से उसका दिग्दर्शन अवश्य हो सकता है।

किसी गाव में मघा नामक एक ग्रामनायक रहता था। इस ग्रामनायक ने अपने चरित्रबल से, प्रजा के प्रेम से और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से गाव भर में ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी कि गाव के सब लोग उसकी वाणी को शास्त्र का विधान मान कर अङ्गीकार करते थे। कोई उसकी बातको उल्लघन न करता था।

मघा ने गाव के लोगों से प्रतिज्ञा कराली थी। अपने गाव में रहने वाला कोई भी पुरुष मद्य-मास का सेवन नहीं करेगा, चोरी डकैती नहीं करेगा, अनाचार-अत्याचार नहीं करेगा। सब मिल जुल कर प्रेमपूर्वक रहेंगे। किसी के साथ कोई झगड़ा फसाद न करेगा।

मघा की यह आज्ञा ग्रामवासियों के लिये धार्मिक प्रतिज्ञा बन गई। सबने स्वेच्छा से उसे स्वीकार किया। मघा की इस

पूरा ध्यान हो। इस धर्मों की मधुरता को ठीक तरह समझने वाला ही दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था का वास्तविक अन्तर समझ सकता है, क्योंकि प्रकृति के नियमों की सुन्दर से सुन्दर व्यवस्था करने वाला धर्म ही है। जहाँ धर्म नहीं वहाँ व्यवस्था नहीं। और जहाँ व्यवस्था नहीं वहाँ सुख-शांति नहीं। इसलिये ग्राम नगर या राष्ट्र में सुख शांति स्थापित करने के लिये ग्रामधर्म नगरधर्म राष्ट्रधर्म आदि धर्मों का यथावत् क्रमवार ज्ञान धर्मनायक को अवश्य होना चाहिये। जो मनुष्य सर्वांगी दृष्टि से धर्म का विचार करता है वह दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था का भेद नहीं समझ सकता। यथार्थ धर्मनायक को ग्राम में सुव्यवस्था और सुख शांति स्थापित करने के लिए विवेक दृष्टि अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

ग्राम में दुर्व्यवस्था उत्पन्न होने के कारण ग्राम पतन के पथ की ओर अग्रसर होता जाता है। गाँव में अगर सुव्यवस्था न हुई तो वहाँ चोरी होती है व्यभिचार होता है, मुकदमेबाजी होती है और इस प्रकार आत्मजीवन का पतन हो जाता है। यह एक प्रत्यक्ष सत्य है। अव्यवस्थित ग्राम में सामान्यतया अनाचार का दौर होता ही है, जिस पर लोगों को अगर खाने के लिये अन्न और पहनने के लिये पर्याप्त वस्त्र न मिलें तब तो अनाचार की सीमा नहीं रहती। अनाचार-अत्याचार रोकने के लिये और लोगों को सत्य तथा न्याय के पथ पर लाने के लिये एक ग्रामनायक-सुव्य-

वस्थापक की आवश्यक्ता रहती है जो सब प्रकार की अव्य-वस्थाओं को दूर करके सुव्यवस्था स्थापित करे।

आज गांवों में स्थविर- ग्रामसेवक बहुत ही कम हैं। इस कारण ग्रामोद्धार का महत्वपूर्ण कार्य व्यवस्थित नहीं हो रहा है। ग्रामनायक अगर ग्रामोद्धार के कार्य में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग करे तो नगरोद्धार और राष्ट्रोद्धार होने में विलम्ब न लगे। ग्राम का उद्धार करने में ग्रामनायक का क्या स्थान है, यह बात बड़ी विस्तृत है। पर नीचे लिखे बौद्ध शास्त्रीय उदाहरण से उसका दिग्दर्शन अवश्य हो सकता है।

किसी गाव में मघा नामक एक ग्रामनायक रहता था। इस ग्रामनायक ने अपने चरित्रबल से, प्रजा के प्रेम से और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से गाव भर में ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी कि गाव के सब लोग उसकी वाणी को शास्त्र का विधान मान कर अङ्गीकार करते थे। कोई उसकी बातको उल्लघन न करता था।

मघा ने गाव के लोगों से प्रतिज्ञा कराली थी। अपने गाव में रहने वाला कोई भी पुरुष मद्य-मांस का सेवन नहीं करेगा, चोरी डकैती नहीं करेगा, अनाचार-अत्याचार नहीं करेगा। सब मिल जुल कर प्रेमपूर्वक रहेंगे। किसी के साथ कोई झगड़ा फसाद न करेगा।

मघा की यह आज्ञा ग्रामवासियों के लिये धार्मिक प्रतिज्ञा बन गई। सबने स्वेच्छा से उसे स्वीकार किया। मघा की इस

सुव्यवस्था से उस गाँव में एक भी शराबी, चोर जुआरी या व्यभिचारी न रहा। उसने गाँव को इस ढंग से सुव्यवस्थित बनाया कि सभी लोग आनन्दपूर्वक निर्भय होकर रहने लगे और ग्राम्यजीवन का सच्चा आनन्द लूटने लगे। किसी को किसी का भय न था। सभी एक वृहत परिवार की भाँति, एक दूसरे के सुख दुःख के साथी बनकर रहते थे। न चोरी का डर, न डकैती का डर। द्वार पर ताला लगाने की भी आवश्यकता जाती रही। उस जीवन में सभी नर-नारी पूरी तरह संतुष्ट थे।

मघा की यह करामात देखकर ग्रामनिवासी उसे देवता की भाँति पूजने लगे। मगर मघा अपनी प्रतिष्ठा से फूलता न था। वह निंदा स्तुति के धरातल से ऊपर उठ गया था। उसकी एक ही धुन थी—ग्रामोद्धार। उसी में वह तन्मय रहता। ग्राम्य जीवन का अधिक से अधिक विकास करना उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य होगया था।

मघा कभी-कभी, फुरसत का समय देख ग्रामनिवासियों को इकट्ठा करता उनके बालकों को पढ़ानेकी सलाह देता, कभी वह मद्य मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण की बुराइयों का और उनसे जीवन पर होने वाले दुष्परिणामों का चित्र खींचता था। कभी बीड़ी-सिगरेट आदि मादक पदार्थों के सेवन की हानियाँ समझाता था। कभी वह अहिंसा की भव्य व्याख्या प्रति-

पादन करता या स्वार्थी लोग अशिक्षा से लाभ उठाकर एक के बदले इक्कीस किस प्रकार वसूल करते हैं यह समझाता। कभी कभी खेती करने का तरीका, खेती की रक्षाका उपाय, धान्य संग्रह की विधि आदि के विषय में विवेचन करता। कभी गाय-भैंस आदि पशुओं के पालन-पोषण आदि का प्रतिपादन करता था। इस प्रकार प्रत्येक संभव उपाय से वह ग्रामवासियों के अभ्युदय के लिए सचेष्ट रहता।

मघा कभी-कभी दोपहर में, जब स्त्रियों को विशेष कामकाज न होता, इकट्ठा करता और उन्हें 'स्त्रीधर्म' समझाता था। शिशुओं के पालन-पोषण के संबंध में अनेक बातें बतलाता था। घर की और पास-पड़ौस की सफाई की ओर उनका ध्यान आकर्षित करता था। वह स्त्रियों को अवकाश के समय चर्खा चलाने, भरने-गूथने आदि घरू धन्धों की भी शिक्षा देता था।

कभी किसी दिन मघा गांव के नवयुवकों की सभा करता। उन्हें यौवन-धनका मूल्य समझाता। जीवनमें यौवन-धन का स्थान क्या है और यह समय कितना नाजुक है। एक जरासा वासना का धक्का जीवन को किस प्रकार मिट्टी में मिला सकता है? और किस प्रकार यौवनधन को संभालना आवश्यक है? इत्यादि प्रश्नों पर विवेचन करता। नवयुवक चाहे तो देश की, समाजकी और धर्मकी कितनी बहुमूल्य सेवा बजा सकते हैं, इस बातका हूबहू चित्र खींचता। उषा के अनुरक्त आंगन में खड़े हुए नवयुवकों को अपनी यौवन

शक्ति का स्व-परविकास में किस प्रकार सदुपयोग करना चाहिए इत्यादि बातें समझाते हुए, युवकों में नूतन प्राणों का संचार करता हुआ और यौवन की मानप्रतिष्ठा का संरक्षण करने के लिए युवकों को चेतावनी देता हुआ मघा, अपने कर्त्तव्यपालन में संलग्न था।

मघा को नन्हें-नन्हें बालकों से बड़ा प्रेम था। कभी, अवसर पाकर वह बालकों को इकट्ठा करता। उन्हें खेलाता उनसे खेलता उनकी सफाई करता अङ्गस्नान कराता और उनके योग्य अच्छी-अच्छी बातें उन्हें बतलाता। कभी उनके साथ हँसता-कूदता और बालकों को इतना हँसाता कि उनका पेट दुखने लगता।

अपनी इस अभिनिष्ठा से मघा बालकों का स्त्रियों युवकों और बूढ़ों का—सभी का स्नेहभाजन बन गया। ग्रामनिवासी सभी उसे अपना मुखिया मानते और उसके इशारे पर नाचने को तैयार रहते थे।

कहने के बदले कर दिखाने पर मघा का विश्वास था। गली-कूचों में कहीं कूड़ा-कचरा देखता तो चुपचाप उठाकर गाँव-बाहर फेंक आता। गन्दगी वाली जगह साफ कर डालता। कई बार स्त्रियाँ साफ की हुई जगह पर कूड़ा बिखेर देतीं पर मघा की भौंहों पर बल न पड़ता। वह दोबारा सफाई करता। मघा का यह निस्वार्थ सेवाभाव देखकर उन्हें लज्जित होना पड़ता। फिर कभी वे ऐसा न करतीं और उलटा मघा के काम में मददगार बन जातीं।

मघा की इस सुव्यवस्था से सारा गाव साफसुथरा और सुघड दिखाई देता था। गाव के लोग अपने गांव की स्वच्छता, सुघडता और सुव्यवस्था देखकर आनंदित होते थे। पर दुनियां में कौन-सी अच्छाई है जो किसी के लिए बुराई न बन जाय? मघा की यह सत्प्रवृत्ति एक मदिराविक्रेता-कलार को और रौब गांठने की गुंजाइश कम होती देखकर कुछ राजकर्मचारियों को कांटे की तरह चुभने लगी। गाव में न कोई शराबी बचा था, न फरियाद करने वाला। अतएव कलार और राज्यकर्मचारी अपनी आजीविका की चिन्ता में पड़ गये। वे चाहते तो सीधा रास्ता पकड सकते थे पर अन्तस्तल में उभरती हुई ईर्षा के प्रभाव से उन्होंने वह रास्ता न पकड़ा।

राज्यकर्मचारियों ने मघा पर मिथ्या दोषारोपण करके मगध-नरेश के सामने फरियाद की। राजा कानों के कच्चे होते हैं। उन्हें सुझा दिया गया था कि मघा जनता में राज्यविरुद्ध उत्तेजना एव विद्रोह की भावना भर रहा है। वह राज्यशासन में उथल-पुथल करना चाहता है। मघा राज्य का महान् शत्रु है और उसे सख्त शिक्षा मिलनी ही चाहिए। वर्ना राज्य खतरे में पड़ जायगा।

मगधनरेश अपने कर्मचारियों के भुलावे में आ गये। उन्होंने मघा को और साथ ही उसके अनुयायियों को हाथी के पैर के नीचे कुचलवा डालने की भीषण व्यवस्था दे दी। मघा ने यह सुना, मगर उसका रोम भी न फड़का। मघा को सत्य और न्याय की अन्तिम विजय पर पूर्ण विश्वास था। वह सत्य का सहारा

शक्ति या स्व-परविश्वास में किस प्रकार सदुपयोग करना चाहिये इत्यादि बातें समझाते हुए, युवकों में नूतन भावों का संचार करता हुआ और जीवन की आत्मप्रतिष्ठा का संरक्षण करने के लिए युवकों को चेतावनी देता हुआ मघा, अपने कार्य-कलाप में संलग्न था।

मघा को नन्हें-नन्हें बालकों से बड़ा प्रेम था। कभी, अवसर पाकर वह बालकों को इकट्ठा करता। उन्हें खेलाता, उनसे खेलता उनकी सफाई करता अंग-व्यायाम कराता और उनके योग्य अच्छी-अच्छी बातें उन्हें बतलाता। कभी उनके साथ हँसता-कूदता और बालकों को इतना हँसाता कि उनका पेट दुखने लगता।

अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा से मघा बालकों का, स्त्रियों, युवकों और बूढ़ों का-सभी का स्नेहभाजन बन गया। ग्रामनिवासी सभी उसे अपना मुखिया मानते और उसके इशारे पर नाचने को तैयार रहते थे।

कहने के बदले कर दिखाने पर मघा का विश्वास था। गली-कूचों में कहीं कूड़ा-कचरा देखता तो चुपचाप उठाकर गाँव-बाहर फेंक आता। गन्दगी वाली जगह साफ कर डालता। कई बार स्त्रियाँ साफ की हुई जगह पर कूड़ा बिखेर देतीं पर मघा की भौंहों पर बल न पड़ता। वह दोबारा सफाई करता। मघा का यह निःस्वार्थ सेवाभाव देखकर उन्हें लज्जित होना पड़ता। फिर कभी वे ऐसा न करतीं और उल्टा मघा के काम में मददगार बन जातीं।

गॉव में सतजुग वर्त्त रहा है। मघा के व्यवहार से हम लोग खूब सुखी और सतुष्ट हैं। सचमुच मघा हमारा नायक है। वह हमारे लिए देवता है।'

मघा के विषय में प्रजाजनों की बात सुनकर मगधनरेश बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कलार और फरियाद करने वाले राजकर्मचारी को बुलाया और पूछा-जिस मघा को तुम राजद्रोही कहते हो, उसी के विषय में प्रजाजनों का विचार एकदम दूसरा है। प्रजा उसे राज्यसुधारक और ग्रामनेता मानती है। कौन सच्चा है-तुम लोग या यह सब प्रजाजन ?

असत्य के पॉव उखड़ गये। प्रजा के सम्मिलित स्वर के आगे असत्य थर्राने लगा। अन्त में कलार और राजकर्मचारी अपने स्वार्थ के लिए एक सच्चे ग्रामसेवक पर लगाये हुए मिथ्या आरोप के लिए क्षमायाचना करने लगे और मगधनरेश के समक्ष किए हुए अन्याय के लिए पश्चात्ताप करने लगे। मगधनरेश मघा की गभीरता, सत्यप्रियता, सेवाभावना आदि गुणों को देख प्रसन्न हुए। अपने राज्य के ग्राम में ऐसे निस्पृह ग्रामसेवक का वास देख गौरव अनुभव करने लगे। अन्त में महाराज ने 'ग्रामनायक' का पद देकर मघा का सन्मान किया।

सच्चे ग्रामसेवक कैसे होते हैं ? उन पर ग्रामोद्धार की कितनी जवाबदारी रहती है ? परीक्षा के प्रसग पर कितनी अधिक निश्चलता एव धैर्य तथा क्षमता का परिचय देना पड़ता है ?

लिये निश्चल खड़ा रहा। मगधनरेश ने मघा का व्यवहार देखा, तो उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा-'मघा' तू क्या करता है? तुझे अपने प्राण प्यारे नहीं है? तू राजद्रोह का त्याग कर सुख-चैन से रहना नहीं चाहता?

मगधनरेश की इस बात से मघा जैसे नींद से जाग उठा। उसने अपने कार्यों पर निगाह डाली। उसे लगा 'मैंने राजद्रोह की बात तो कभी सोची तक नहीं है। फिर मुझ पर यह आरोप क्यों?' अन्त में मघा ने कहा-'महाराज मैं जो प्रवृत्ति कर रहा हूँ, उसमें राजद्रोह की गंध तक नहीं है। मैं आपसे बिना वेतन माँगे आप का ही काम कर रहा हूँ। अगर यह मेरा अपराध नहीं है तो मैं सर्वथा निरपराध हूँ। फिर भी अगर आप मुझे राजद्रोह का अपराधी मानते हैं तो आपकी आज्ञा सिर माथे है।

मगधनरेश मघा की बात से प्रभावित हुए। उसकी बात में एक प्रकार की निस्पृहता थी, उत्साह था और औद्धत्य का अभाव था। नरेश फिर बोले-'मघा बताओ सारे दिन तुम क्या करते हो?'

मघा ने अपनी दिनचर्या कह सुनाई। फिर उसके गांव वालों से पूछताछ की गई-'प्रजाजनो! मघा की प्रवृत्ति से तुम्हें क्या हानि-लाभ हुआ है? क्या तुम साफ-साफ बता सकते हो?'

प्रजाजनों ने कहा-'अन्नदाता, मघा की सत्प्रवृत्तियों के कारण गांव में शराबी जुआरी या दुराचारी कोई नहीं रहा। बालक, जवान, स्त्रियाँ और वृद्ध सभी अच्छे रास्ते पर आ गये हैं

गॉव में सतजुग वर्त्त रहा है। मघा के व्यवहार से हम लोग खूब सुखी और संतुष्ट हैं। सचमुच मघा हमारा नायक है। वह हमारे लिए देवता है।'

मघा के विषय में प्रजाजनों की बात सुनकर मगधनरेश बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कलार और फरियाद करने वाले राजकर्मचारी को बुलाया और पूछा-जिस मघा को तुम राजद्रोही कहते हो, उसी के विषय में प्रजाजनो का विचार एकदम दूसरा है। प्रजा उसे राज्यसुधारक और ग्रामनेता मानती है। कौन सच्चा है-तुम लोग या यह सब प्रजाजन ?

असत्य के पॉव उखड़ गये। प्रजा के सम्मिलित स्वर के आगे असत्य थर्राने लगा। अन्त में कलार और राजकर्मचारी अपने स्वार्थ के लिए एक सच्चे ग्रामसेवक पर लगाये हुए मिथ्या आरोप के लिए क्षमायाचना करने लगे और मगधनरेश के समक्ष किए हुए अन्याय के लिए पश्चात्ताप करने लगे। मगधनरेश मघा की गंभीरता, सत्यप्रियता, सेवाभावना आदि गुणों को देख प्रसन्न हुए। अपने राज्य के ग्राम में ऐसे निस्पृह ग्रामसेवक का वास देख गौरव अनुभव करने लगे। अन्त में महाराज ने 'ग्रामनायक' का पद देकर मघा का सन्मान किया।

सच्चे ग्रामसेवक कैसे होते हैं ? उन पर ग्रामोद्धार की कितनी जवाबदारी रहती है ? परीक्षा के प्रसंग पर कितनी अधिक निश्चलता एवं धैर्य तथा क्षमता का परिचय देना पड़ता है ?

इत्यादि अनेक बातें ग्रामनायक मघा के चरित्र से स्वयं प्रकट हो जाती हैं।

सच्चा ग्रामसेवक अन्याय से डरता नहीं है। सत्य और न्याय पर उसकी अविचल श्रद्धा होती है। आने वाली परेशानियों पर विजय पाना उसका कौतुक है। मघा की निर्भयता ने सजा के बदले सम्मान पाया। उसने मूल भटके लोगों को सुमार्ग दिखाया।

खेद है, आज गांवों में मघा-सा ग्रामनायक खोजने पर भी कहीं दिखाई नहीं देता। आज एक-एक मनुष्य अपने आप में व्यस्त है। आत्मीयता का भाव अत्यन्त ही क्षुद्र दायरे में सीमित हो गया है। इसी कारण ग्रामों की व्यवस्था बिगड़ी हुई है। ग्रामों में सच्चे सेवकों का अभाव होने से ही वहां दुर्व्यसनों का दौर चल रहा है, घोर अज्ञान फैला है, जड़ता का वास है, गंदगी का राज्य है, दीनता और बवसी का नाच हो रहा है, मुकदमेबाजी का बाजार गरम है और इस प्रकार सारा का सारा ग्राम्यजीवन अस्तव्यस्त हो रहा है।

जिस ग्राम का नायक बुद्धिमान् होता है, वहां के लोगों को दुष्काल पड़ने पर भी कठिनाई नहीं भोगनी पड़ती क्योंकि ग्राम नायक अपनी दीर्घ दृष्टि से भविष्य का विचार करके धान्य का संग्रह करा रखता है। दुष्काल के अवसर पर उसका उपयोग करके कठिनाई से बचा जा सकता है।

ग्रामनायकों के अभाव में, आज ग्रामीण जनता का जीवन-धन-गोवंश अज्ञान और दुर्व्यवस्थाके कारण लुट रहा है। सच्चा ग्रामनायक गोवशके पालन-पोषणके वैज्ञानिक उपायों पर अमल करके उनके सरक्षण और सवर्द्धन की तमाम व्यवस्था करता है।

अगर आज कोई ग्रामनायक आगे आवे और ग्रामीण जनता उसकी कार्यप्रणाली में सहयोग दे तो भारतवर्ष का अस्तंगत ज्ञानसूर्य फिर उदित हुए बिना नहीं रह सकता।

जब तक मानव-समाज का जीवन अन्न और वस्त्र पर अवलंबित है तब तक ग्रामधर्म को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिये बिना छुटकारा नहीं। और यदि अन्न-वस्त्र के बिना मानवजीवन कदापि नहीं टिक सकता तो ग्रामधर्म की उपेक्षा भी कदापि नहीं की जा सकती। ग्रामधर्मके प्रति उपेक्षा करने का अर्थ है मानव-जीवन के प्रति उपेक्षा करना।

भारतवर्ष में ऐसे ग्राम मौजूद हैं जो अपनी ही उपज में से उपर्युक्त दोनों आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकते हैं। ग्राम में उत्पन्न होने वाला अन्न ग्राम्यजनता की तमाम खाद्य वस्तुओं की आवश्यकता पूर्ण कर सकता है। रह जाती है सिर्फ वस्त्र की बात। सो प्राचीन काल में प्रत्येक गाव में वस्त्र तैयार किये जाते थे। कोई गाँव ऐसा न था जहाँ वस्त्र न बनाये जाते हों। यह सब आज भी किया जा सकता है। इस प्रकार अगर प्रत्येक ग्राम अपने लिये खाने को अन्न और पहनने को कपड़ा

फिर भी हमारी मोहनिद्रा अब तक भी पूरी तरह भंग नहीं हुई। इसी कारण राष्ट्र के सूत्रधार ढोल बजा कर कहते हैं—

'सच्चा हिन्दुस्तान गांवों में बसता है। शहर तो माया मात्र हैं। गांवों की सेवा ही हिन्दुस्तान के पुनरुद्धार की भूमिका है।

ग्रामोद्धार की यह बात भले ही समझ में आ गई हो फिर भी अभी तक हमारे हृदयों के तारों में सहानुभूति की झनझनाहट उत्पन्न नहीं हुई। इस अभागे सत्य को अस्वीकार करने से क्या लाभ है?

कोई सच्चा ग्रामनायक, ग्रामधर्म का मर्म जब हमें समझाएगा और समझे हुए धर्म को जब हम जीवन में परिणत करेंगे तब भारतवर्ष उन्नति के शिखर पर विराजमान होगा।

भारतवर्ष में जब सच्चे ग्रामनायक थे तब ग्रामधर्म समस्त धर्मों का संचालन करता था। अर्थात् ग्रामधर्म ही नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का पोषण और वर्धन करता था।

लगभग दो हजार वर्ष पहले की बात है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार में ग्रीस देश का राजदूत मेगस्थिनीज आया था। उसने भारतवर्ष के धर्म के संबंध में अपने कुछ वर्ष के अनुभव बतलाते हुए लिखा है—

भारतवर्ष में धर्म की ऐसी सुन्दर व्यवस्था है कि भारतीय लोग अपने मकान में ताला भी नहीं लगाते। न वे असत्य भाषण करते हैं, न मायाचार का सेवन करते हैं।'

भारतवर्ष, आज भी वही भूमि है जिसका एक परदेशी ने मुक्तकंठ से गुणगान किया है।

इस पुण्यमयी भारत भूमि को ग्रामधर्म के पालन द्वारा फिर से उन्नत बनाने का उत्तरदायित्व उसकी संतान पर आ पड़ा है।

ऊपर जिस ग्राम्य-व्यवस्था का उल्लेख किया गया है, वह जिस दिन भारत में, उसके ग्रामनायकों द्वारा प्रचलित की जायगी उसी दिन भारत में फिर से आनन्द-मंगल की हवा चहुँ ओर फैल जायगी और शान्ति का साम्राज्य स्थापित होगा। भारतवर्ष के शुभचिन्तकों का यही मन्तव्य है।

—•—

२

नगरस्थविर--नगरनायक

[नगरथेरा]

नगर-स्थविर के नगरोद्धार के कार्य में नागरिक जन अगर सहृदय सहयोग प्रदान करें तो सच्ची नागरिकता का, जो मानव-जीवन को विकसित करने के लिए आवश्यक है, विकास हो सकता है। नागरिकता धर्मसंस्कृति का पोषण करती है।

जो विशिष्ट पुरुष नगर की आन्तरिक तथा बाह्य सुव्यवस्था करता है वह नगरस्थविर या नगरनायक कहलाता है।

ग्रामस्थविर और नगरस्थविर में इतना अन्तर है कि ग्राम-स्थविर ग्राम की अर्थात् छोटे-से जनसमूह की व्यवस्था करता है, जब कि नगरस्थविर नगर की अर्थात् बड़े जनसमूह की व्यवस्था करता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी अधिकारमर्यादा के अनुसार कार्य आरम्भ करता है और उसे पार उतारता है। अधिकारमर्यादा का उल्लंघन करने वाला कार्य में सफलता नहीं पाता।

मुक्त नहीं हो रही है तो नगरनायक का यह काम होगा कि वह उसकी सर्वजनयोग्यता का उचित उपयोग करे और इस उपाय से उसका धर्मसंकट दूर कर दे। नगर में बेकारी की तरफ भी गुञ्जाइश न रहने दे।

नगर के व्यापारियों को व्यापार में जो दिक्कतें आती हों उन्हें दूर करना और नगर का व्यापार तथा नागरिकों की समृद्धि बढ़ाने के लिये सतत प्रयत्न करना भी नगरनायक का कर्तव्य है।

नागरिक प्रजा बेहूदे रीति-रिवाजों से जकड़ा गई हो और वे रीतिरिवाज सामाजिक जीवन पर बुरा प्रभाव डाल रहे हों तो उन्हें त्याग देने और समाजसुधार के पथ पर चलने के लिये उत्साहित करना यथोचित सहयोग देना भी नगरनायक का कर्तव्य है।

इन सब कर्तव्यों के अतिरिक्त प्रजा की धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रवृत्ति में समभाव पूर्वक सक्रिय भाग लेना और उसे सत्पथ की ओर ले जाने के लिए उसका नेतृत्व करना भी नगर-नायक का ही कर्तव्य है।

जब नगरनायक इस प्रकार शुभ निष्ठा और प्रामाणिकता के साथ नगरोद्धार का कार्य करता है, तब नागरिक जनता पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इस प्रकार नगर-नायक अपनी कर्तव्यनिष्ठा द्वारा नगर-जनों का हृदय जीत लेता है और नगरजन नगरनायक का आदेश उठाने को सदा तत्पर रहते हैं।

नागरिक जनता एक मात्र प्रतिनिधि नगरनायक ही हो सकता है। नगरनायक की आवाज सारे नगर की आवाज है। आजकल नगरनायक को 'मेयर' (Mayor) या 'म्युनिसिपल कमिश्नर' कहते हैं। शास्त्रकारों ने उसे 'नगरस्थविर' कहा है। मगर नगर-नायक नगरजनों को सुख-शांति पहुंचाने का प्रयास करे और नगर के हित को ही प्रथम स्थान दे तो ही वह वास्तव में मेयरपद या नगरस्थविर पद को दिपा सकता है। आज अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए मेयर पद चाहने वालों की कमी नहीं है, पर सच्ची सेवाभावना से प्रेरित होकर उस पद को सुशोभित करने वाले कितने निकलेंगे? नगरस्थविर का उत्तरदायित्व कितना अधिक है, यह बात एक ऐतिहासिक उदाहरण से सहज ही समझी जा सकती है—

संवत् १६०८ की बात है। उस समय उदयपुर के महाराणा स्वरूपसिंहजी थे। उन्होंने एक बार नगरसेठ प्रेमचन्दजीको अपने पास बुलाया। उन्होंने अपने नगर के इस प्रतिष्ठित पुरुष का सन्मान करने के लिए पांच हजार रुपये की जागीर उन्हें देने की इच्छा प्रकट की। नगरसेठ ने महाराणा से निवेदन किया—'महाराणा साहब, आपकी कद्रदानी के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ, पर जागीर स्वीकार करते मन सकुचाता है। ऐसा करने से मेरे नगरधर्म को खतरा है। अगर मैं जागीर स्वीकार कर लूं तो प्रजा के विरुद्ध राज्य की प्रत्येक आज्ञा मुझे शिरोधार्य करनी होगी। उस अवस्था में प्रजा का दुख-दर्द दूर करके नगर के प्रति

ग्रामस्थविर ग्राम की अधिकारमर्यादा में रहता हुआ ग्राम के अभ्युदय के लिए कार्य करता है। ग्रामस्थविर अगर ग्राम के अभ्युदयका कार्य आरम्भ करके नगरका सुधार करने चल पड़े तो वह दोनोंमें से एक भी कार्य सम्पन्न न कर सकेगा अतएव यह आवश्यक है कि ग्रामस्थविर अपनी ही मर्यादा में रहकर ग्राम-सुधार का प्रयत्न करे और नगर-स्थविर नगर की सुव्यवस्था की ही ओर ध्यान दे। बड़े जन-समूह की व्यवस्था नागरिक ही कर सकते हैं ग्रामजनों द्वारा नागरिकों का नियंत्रण नहीं किया जा सकता।

नगरस्थविर राजा और प्रजा के बीच का प्रधान पुरुष होता है। राज्य से प्रजा को और प्रजा से राज्य को किसी प्रकार की हानि न पहुंचने देने की जिम्मेदारी नगरस्थविर की है। इस जिम्मेदारी को भलीभाँति निभाने वाला पुरुष ही नगरस्थविर के पद की शोभा बढ़ा सकता है।

नगर-प्रजा की शारीरिक मानसिक आर्थिक, व्यापारिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति सुधारने में जो जो बाधक कारण हों, उन्हें दूर करके विकास के साधन पूरी तरह प्रस्तुत करना नगर-नायक का प्रधान कर्त्तव्य है।

नगर-जनों की शारीरिक स्थिति सुधारने के लिए जगह-जगह व्यायामशालाएँ स्थापित करना स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों का पालन कराना प्राकृतिक आवश्यकताओं के लिए योग्य व्यवस्था करना घर-घर पानी पहुंचाने का समुचित प्रबंध करना नहाने और धोने की अलग-अलग व्यवस्था करना इत्या-

दि शारीरिक स्थिति सुधार सबंधी प्रबंध करना नगरनायक का कर्त्तव्य होता है।

नागरिकों की वाचनिक उन्नतिके लिये सभागृह स्थापित करना, सभागृहों में विद्वान् वक्ताओं के भाषणों की व्यवस्था करना, बालक, नवयुवक, बालिकाएँ और कुमारिकाएँ जिनमें स्वतन्त्रता-पूर्वक भाग ले सकें ऐसे समारम्भों की व्यवस्था करना भी नगरनायक का कर्त्तव्य है।

नगरनिवासियों के मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिये बालशाला, कुमारशाला, किशोरशाला, प्राथमिकशाला, माध्यमिक शाला, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, आदि यथावश्यक शिक्षा संस्थाएँ स्थापित करना भी नगर-नायक का कर्त्तव्य है। उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि इन संस्थाओं में केवल तोतारटन्त न हो। यहाँ जो भी शिक्षा दी जाय वह हृदय स्पर्शी हो, जीवन में ओत-प्रोत हो जाय। साथ ही संस्कृति के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य हो। वह परमुखापेक्षी न बनावे। मनुष्य को स्वावलम्बी बनाने वाली शिक्षा की ओर खूब ध्यान दिया जाय। इसके लिये उद्योग और कला कौशल सिखाने की व्यवस्था की जा सकती है। इस प्रकार शिक्षण की समुचित व्यवस्था करके नागरिक जीवन को विकसित करने का प्रयत्न करना भी नगरनायक का कर्त्तव्य है।

अगर कोई नागरिक अर्थसंकट के कारण दुःखमय जीवन व्यतीत करता है और उसकी सर्जन-शक्ति किसी भी कार्य में

प्रयुक्त नहीं हो रही है तो नगरनायक का यह काम होगा कि वह उसकी सर्वजनोपयोगिता का उचित उपयोग करे और इस व्याप से उसकी अमर्संकट दूर कर दे। नगर में बेकारी की जरा भी गुंजाइश न रहने दे।

नगर के व्यापारियों को व्यापार में जो दिक्कतें आती हों उन्हें दूर करना और नगर का व्यापार तथा नागरिकों की समृद्धि बढ़ाने के लिये सतत प्रयत्न करना भी नगरनायक का कर्तव्य है।

सामाजिक प्रजा बेहूदे रीति-रिवाजों से जकड़ी गई हो और वे रीतिरिवाज सामाजिक जीवन पर बुरा प्रभाव डाल रहे हों तो उन्हें त्याग देने और समाजसुधार के पथ पर चलने के लिये प्रोत्साहित करना यथोचित सहयोग देना भी नगरनायक का कर्तव्य है।

इन सब कर्तव्यों के अतिरिक्त प्रजा की धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रवृत्ति में समभाव पूर्वक सक्रिय भाग लेना और उसे सत्पथ की ओर ले जाने के लिए उसका नेतृत्व करना भी नगर-नायक का ही कर्तव्य है।

जब नगरनायक इस प्रकार शुभ निष्ठा और प्रामाणिकता के साथ नगरोद्धार का कार्य करता है, तब नागरिक जनता पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इस प्रकार नगर-नायक अपनी कर्तव्यनिष्ठा द्वारा नगर-जनों का हृदय जीत लेता है और नगरजन नगरनायक का आदेश बजाने को सदा तत्पर रहते हैं।

नागरिक जनता एक मात्र प्रतिनिधि नगरनायक ही हो सकता है। नगरनायक की आवाज सारे नगर की आवाज है। आजकल नगरनायक को 'मेयर' (Mayor) या 'म्युनिसिपल कमिश्नर' कहते हैं। शास्त्रकारों ने उसे 'नगरस्थविर' कहा है। मगर नगर-नायक नगरजनों को सुख-शांति पहुंचाने का प्रयास करे और नगर के हित को ही प्रथम स्थान दे तो ही वह वास्तव में मेयरपद या नगरस्थविर पद को दिपा सकता है। आज अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए मेयर पद चाहने वालों की कमी नहीं है, पर सच्ची सेवाभावना से प्रेरित होकर उस पद को सुशोभित करने वाले कितने निकलेंगे ? नगरस्थविर का उत्तरदायित्व कितना अधिक है, यह बात एक ऐतिहासिक उदाहरण से सहज ही समझी जा सकती है—

संवत् १६०८ की बात है। उस समय उदयपुर के महाराणा स्वरूपसिंहजी थे। उन्होंने एक बार नगरसेठ प्रेमचन्दजीको अपने पास बुलाया। उन्होंने अपने नगर के इस प्रतिष्ठित पुरुष का सन्मान करने के लिए पांच हजार रुपये की जागीर उन्हें देने की इच्छा प्रकट की। नगरसेठ ने महाराणा से निवेदन किया—'महाराणा साहब, आपकी कद्रदानी के लिए मैं अत्यन्त आभारी हूँ, पर जागीर स्वीकार करते मन सकुचाता है। ऐसा करने से मेरे नगरधर्म को खतरा है। अगर मैं जागीर स्वीकार कर लूं तो प्रजा के विरुद्ध राज्य की प्रत्येक आज्ञा मुझे शिरोधार्य करनी होगी। उस अवस्था में प्रजा का दुख-दर्द दूर करके नगर के प्रति

मैं अपना कर्त्तव्य भलीभांति अदा न कर सकूंगा। अतएव मैं अगर जागीर स्वीकार नहीं कर सकता तो मुझे क्षमा प्रदान कीजिए।

महाराणा स्वरूपसिंह नगरसेठ का प्रजा-प्रेम देख अत्यन्त आनन्दित हुए। उस दिन से वे सेठजी को सच्चा नगरसेवक और राज्यभक्त पुरुष मानने लगे।

महाराणा स्वरूपसिंह के बाद संवत् १९१८ में महाराणा शंभुसिंहजी गद्दी पर बैठे। उनके समय में राज्यभार एजेण्ट के हाथ में था। राज्यव्यवस्था ठीक न होनेके कारण प्रजाको बहुतसी तकलीफें सहनी पड़ती थी। प्रजा दुःख सहते-सहते ऊब गई थी। अन्त में प्रजा नगरसेठ चम्पालालजी के पास आई और तकलीफ दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाने की प्रेरणा करने लगी। नगरसेठ महाराणा के पास पहुंचे और प्रजा का कष्ट निवारण करने की प्रार्थना की। महाराणा ने उत्तर में एजेण्ट के पास जाकर सारी बात कहने का आदेश दिया। नगरसेठ पंचों को साथ लेकर एजेण्ट के बंगले पर जाने को तैयार हुए। पर वहां कुछ स्वार्थी लोगों ने एजेण्टके कान भर दिये—कहा साहब, प्रजा संगठन करके आपके ऊपर हमला करने चली आ रही है।

एजेण्ट ने अपने कर्मचारियों की बात सुनी तो आग-बबूला हो गया। उसने अपनी रक्षा के लिए तोपखाना तैयार करने का हुक्म दिया। इधर नगरजनों ने तोपखाना तैयार करने का समाचार सुना तो वे भी घबराहट में पड़ गये। उन्होंने नगर में संपूर्ण हड़ताल

करदी। नागरिक लोग उदयपुर की 'सहेलियों की बाड़ी'* में जमा हुए। नगर सेठ ने सबको शान्त और संगठित रहकर स्थिति का मुकाबिला करने की सलाह दी। सभी ने एक स्वर से नगरसेठ की सलाह स्वीकार की।

इन्हीं दिनों उदयपुर नगर में एक बैल मर गया। मरे बैल को उठा लेजाने के लिए ढेढ़ लोगों को बुलाया। पर उन्होंने साफ उत्तर दिया-कि नगरसेठ की आज्ञा बिना हम लोग हर्गिज काम न करेंगे। राज्यकर्मचारी किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो रहे। कर्मचारी नगरसेठ के पास पहुँचे और मरे बैल को उठा ले जाने की, ढेढ लोगों को आज्ञा देने को कहा। नगरसेठ उदारचित्त थे। वे पिघल गये। उनकी आज्ञा पाकर मरे बैल को उठाया और बाहर ले गये। नगरसेठ का समस्त प्रजा पर पूरा २ प्रभाव था। नगरजन खूब संगठित थे। उधर एजेण्ट साहब अपने निश्चय पर दृढ रहे, इधर नगरसेठ अपने निश्चय पर सुदृढ रहे। कोई किसी के सामने झुकने को तयार न हुआ। एजेण्ट का दुराग्रह देख नगरसेठ मोटे गाँव (गोगुन्दा) नामक गाँव में चले गये। नगरसेठ का नगर छोड़ जाना साधारण बात न थी। एजेण्ट को यह मालूम हुआ।

* उदयपुर में 'सहेलियों की बाड़ी' नामक एक सुन्दर उद्यान है। उदयपुर का सौन्दर्य बढ़ाने में इस उद्यान का भी बड़ा भाग है किसी समय महारानी अपनी सखी-सहेलियों के साथ वायुसेवन के लिए इस उद्यान में आया करती थीं। इसी से उसका उक्त नाम मशहूर होगया है।

उसे यह भी मालूम हुआ कि नगरसेठ के पीछे और प्रतिष्ठित लोग भी शहर छोड़कर जाएँगे। अतएव एजेण्ट बहुत नम्र हुआ। नगर-सेठ को अपने पास बुलवाया और नगर छोड़ने का कारण पूछा। नगरसेठ ने नागरिक प्रजा की कष्ट-कथा कह सुनाई। एजेण्ट साहब ने शान्त चित्त से नगर सेठ की बातें सुनीं। अन्त में उसने प्रजा का कष्ट निवारण करने का आश्वासन दिया और नगर-सेठ को नगर न छोड़ने का आग्रह किया।

सेठ चम्पालालजी और सेठ प्रेमचन्दजी सच्चे दिल से प्रजा की भलाई चाहते थे। इसलिए प्रजा भी उन्हें अपना हितैषी प्रतिनिधि मानती थी। सच्चा नगरपति अपनी सुख-सुविधाओं को लात मार कर प्रजाके कष्टनिवारण करनेका उद्योग करता है। प्रजा का सुख-दुःख ही उसका सुख-दुःख होता है। वह अपना अस्तित्व प्रजा के अस्तित्व में समाविष्ट कर लेता है। सेठ चम्पालालजी और प्रेमचन्दजी ऐसे ही नगरपति थे। इसी कारण प्रजा उनके आदेश को ईश्वरी आदेश की तरह मान्य समझती थी।

ऊपर हम देख चुके हैं कि नागरिकों के हित के लिए नगरस्थविर को अपना कितना समय और कितनी शक्ति का त्याग करना पड़ता है ?

जिस नगर में ऐसे प्रजावत्सल और सत्याग्रहशील नगर-स्थविर बसते हैं उस नगर में अत्याचार अनाचार लूटमार चोरी डकैती आदि बुराइयाँ नहीं घुस पाती। वहाँ सदाचार स्नेह, सद्-भाव संगठन आदि सद्गुणों की हवा बहुँ ओर बहती है।

नगरस्थविर का पद राजा की अपेक्षा भी अधिक महत्व का है। राजा अपनी सत्ता के बल से प्रजा पर शासन करता है, पर नगरस्थविर शुद्ध प्रेमभाव से प्रजा पर पूरा काबू रखता है। और यह कौन नहीं जानता कि प्रेम के प्रभाव के आगे सत्ता का उन्माद निरर्थक साबित होता है। राजा कितना ही बलवान क्यों न हो, नगरस्थविरों के प्रेमभाव के आगे उसे झुकना ही पड़ता है, क्योंकि उसमें प्रजा की संगठित शक्ति केन्द्रित होती है।

नगरस्थविर राजा और प्रजा के बीच का प्रतिनिधि है। नगरपति राजा का गुलाम नहीं है और प्रजा का अंधभक्त भी नहीं है। वह सत्य और न्याय का उपासक है। राजा अन्याय करता हो तो उसे रोकना और प्रजा निष्कारण राजद्रोह करती हो तो उसे समझा कर शान्त करना, यह नगरस्थविर का कार्य है। राजा और प्रजा—दोनों के प्रति नगरस्थविर का इतना अधिक सद्भाव होता है, मानों वह इनका दास है, फिर भी वह सब का स्वामी है। इस प्रकार नगरनायक प्रजा का सेवक है और सच्चा सेवक होने के कारण सेव्य भी है।

कोई भी राज्य केवल अधिकार के बल से नहीं निभ सकता। राज्य की दृढ़ता प्रजा के सहयोग पर निर्भर करती है। ग्रामस्थविर और नगरस्थविर राजा और प्रजा के बीच स्नेहसंबन्ध स्थापित करता है और इसलिए उसीपर नगर एवं ग्राम की सुख-शान्ति अवलंबित है।

जिस नगर में पारस्परिक स्नेह-सद्भाव और सहकार-सहानुभूति नहीं होती उस नगर का उद्धार होना बहुत कठिन है। जिस नगर के निवासी अपने पड़ौसियों के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं, हमें उनसे क्या प्रयोजन। जो करेगा सो भरेगा। हम क्यों किसी के बीच में पड़ें! इस प्रकार सोचकर अपने पड़ौसियों को सहयोग नहीं देते वे नगर के अधःपतन में कारण बनते हैं।

मानवहृदय ही ऐसा है कि वह किसी का दुःख-दर्द देखकर एकदम द्रवित हो जाता है। यह हृदय की नैसर्गिक वृत्ति है। ऐसी अवस्था में अगर एक पुरुष अपने दूसरे नागरिक भाई को सहयोग नहीं देता-उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त नहीं करता तो समझना चाहिए उसका हृदय सूख गया है-उसमें मानवीय हृदय नहीं है, वह मनुष्य की आकृति में पशुवत आचरण कर रहा है।

एक अंधा आदमी गड़हे में गिर रहा है। उसके पास तेज आँखों वाला दूसरा पुरुष खड़ा-खड़ा देखता है। वह अन्धा चाहे मरे चाहे जीये यह सोचकर अन्धे को गिरने से रोकने की चेष्टा नहीं करता। तो इन दोनों में बड़ा और सच्चा अन्धा कौन है? इस प्रश्न का एक स्वर से यही उत्तर मिलेगा कि सूझता कहलाने वाला पर अन्धे को गड़हे में गिरने से न बचाने वाला ही वास्तव बड़ा अन्धा है।

मित्रो! हम सब मनुष्य हैं। मनुष्य की विशिष्टता उसकी विवेक-बुद्धि पर निर्भर है। विवेक-बुद्धि धारण करने वाले मनुष्य में इतनी निर्दयता कहाँ से आगई है कि अन्धा आदमी गड़हे में

गिरता है और सूझता मनुष्य उसे बचाता नहीं। सचाई यह है कि आज अधिकांश मनुष्यों में 'मनुष्यता' रह ही नहीं गई है। 'हमें क्या ? इस प्रकार का उपेक्षाभाव सच्चे मनुष्य के हृदय में उत्पन्न ही नहीं हो सकता। परस्पर सहयोग करना, एक दूसरे की सहायता करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। जो मनुष्य जिस ग्राम या जिस नगर में निवास करता हैं वह उस ग्राम या नगर के सुख-दुख की यदि चिन्ता नहीं करता और केवल स्वार्थ में ही लिप्त रहता है और 'हमें किसी से क्या' सोचकर दूसरों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है तो कहना होगा कि उसे उस नगर या ग्राम में रहने का अधिकार ही नहीं है।

निस्वार्थ बुद्धि से, पवित्र कर्त्तव्य की आन्तरिक प्रेरणा से, अपने पड़ोसी की विपदा में भाग लेना नागरिकता का आभूषण है, मगर जिसकी नागरिकता का इतना विकास नहीं हुआ उसे भी कम से कम इतना विचार तो करना ही चाहिए कि जो आपदा-विपदा आज मेरे पड़ौसी नगरनिवासी पर आ पड़ी है वही कल मेरे ऊपर भी आ सकती है। कौन जानता है, भविष्य के गर्भ में क्या-क्या छिपा है ? अगर आज मैं दूसरों का मददगार नहीं बनता तो कल मेरी मदद कौन करेगा ? अतएव बुद्धिमान पुरुष को पहले ही सावधान होना चाहिए। कम से कम इसी विचार से नागरिक को अपने दूसरे नागरिक भाई की विपत्ति के समय सहायता करनी चाहिए। ऐसा करने से ही नागरिकता की जिम्मेदारी अदा की जा सकती है।

नगर नागरिक की अपेक्षा नगरपति का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। नगरपति का गौरवमय विरुद वही प्राप्त कर सकता है जो नगर के उद्धार के लिए ही अपना जीवन दे डालता है, जो समस्त नगर में अपना व्यक्तित्व बिखेर देता है, जो नागरिकों के सुख-दुख को ही अपना सुख-दुख समझता है और नागरिकों के स्वास्थ्य शिक्षण आदि के लिए सदा निरन्तर उद्योगशील रहता है। विज्ञापनबाजी का सहारा लेकर लोगों को भुलावे में डालकर नगरपति बन जाना आसान है पर उस पद को आत्मोत्सर्ग करके निभाना-उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा करना बहुत कठिन है। यही कारण है कि नगरपति या 'मेयर' या 'सिटी फादर' (नगरपिता) बनने के लिए लोग आकाश पाताल एक कर देते हैं, पर जब कर्त्तव्य का बोझ सिर पर आ पड़ता है तब झूठे बहाने बनाकर किनारा काट जाते हैं। ऐसे लोग अपने स्वार्थीपन और कृतघ्नता का परिचय देते हैं।

सच्चा स्वार्थत्यागी पुरुष नगर के उद्धार के लिए तन मन, धन का सर्वस्व समर्पण कर सकता है। वही नगरस्थविर पद का वास्तविक अधिकारी है। जो कीर्तिलोलुप है, जो अपनी वाक्पटुता और बाह्य आडंबर द्वारा नगर-निवासियों को भ्रम में डालकर ठगता है, वह नागरिक की हैसियत से भी नगर में रहने का अधिकारी नहीं है। फिर नगरस्थविर के गौरवमय पद को प्राप्त ही कैसे कर सकता है? निम्नलिखित राष्ट्रीय दृष्टान्त से यह बात भलीभाँति समझी जा सकती है।

उपासकदशाग नामक सूत्र में एक सच्चे नगरस्थविर का वर्णन मिलता है। इसका नाम आनन्द गाथापति था। आनन्द गाथापति का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया गया है—

से णं आनंदे गाहावई बहूणं राईसर जाव सत्थवाहाणं बहुसु कज्जेसु य कारणेसु य मंतेसु य कुडुम्बेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे, पडिपुच्छणिज्जे, सयस्सवि य णं कुडुंबस्स मेढी, पमाणं, आहारे, आलम्बणं, चक्खू, मेढीभूए जाव सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था।

—उपासकदसांग सूत्र प्र० अ०

अर्थात्—आनन्द गाथापति बड़े-बड़े राजाओं से लेकर सामान्य सार्थवाहों के महत्वपूर्ण कार्यों में, कारणों में, सलाह करने में, मत्रणा करने में तथा कुटुम्ब संबन्धी गुप्त कार्यों में, विचारविनिमय करने में एकवार और बारम्बार पूछने योग्य था। आनन्द गाथापति अनेक कुटुम्बों का पोषक, आधार, आलंब, चक्षु और कोल्हू के बीच के स्तंभ के समान मुख्य था। आनन्द श्रावक नगर की प्रत्येक प्रवृत्ति में अग्रस्थान भोगता था।

यहाँ शास्त्रकार ने आनन्द गाथापति को जिन मेढीभूत, प्रमाणभूत, आधारभूत, आलम्बनभूत, चक्षुभूत आदि विशेषणों से सराहा है वह विशेषण एक सच्चे नगरपति की शोभा बढ़ाने वाले

हैं। नगरपति को किस प्रकार नागरिकों की रक्षा करनी चाहिए किस प्रकार नागरिकों का विश्वास प्राप्त करना चाहिए यह बात इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है।

मेढ़ी उस खंभ को कहते हैं जिसके आसपास-चारों ओर बैल चक्कर लगाते हैं। समस्त नगरनिवासी आनन्द के सहारे ही अपनी प्रवृत्ति करते थे। वह समस्तनगर का प्रधान पुरुष था। वह नगरनिवासियों को अपना कुटुम्बी मानकर चलता और उनके दुःख का सच्चा भाग बटाता था।

आनन्द गाथापति 'प्रमाणभूत' था—अर्थात् वह अपने प्रामाणिक जीवन के आदर्श से दूसरों को प्रामाणिक बनाता था। जीवन अप्रामाणिक प्रवृत्ति से किस प्रकार विपाक्त और प्रामाणिक प्रवृत्ति से कितना सुखमय बन जाता है, यह बात वह नागरिकों को समझाता था और सुख के मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता था। जो स्वयं प्रामाणिक है वही दूसरों को प्रामाणिक बना सकता है। अतएव आनन्द गाथापति सच्चा आदर्श एवं प्रामाणिक पुरुष था।

आनन्द गाथापति 'आधारभूत' था। अर्थात् जैसे राजा नगर का मुख्य आधार होता है उसी प्रकार आनन्द गाथापति भी नगर-निवासियों का रक्षक होने के कारण आधारभूत था। अथवा आनन्द गाथापति आधारभूत था—गरीब नागरिकों को अन्न दान देकर अपने गाहकों की सेवा बजाता था। जैसे जल

से प्राण की रक्षा होती है, उसी प्रकार आनन्द द्वारा प्रजा की रक्षा होती थी।

आनन्द गाथापति 'आलम्बन' था। अर्थात वह अन्धे की लकड़ी था—क्या राजा, क्या प्रजा, सभी के लिए वह आलम्बन भूत था।

आनन्द 'चक्षुभूत' था। जैसे चक्षु समस्त अंगों में प्रधान अंग है उसी प्रकार आनन्द सारे नगर में प्रधान था। वह ज्ञानचक्षु से हीन पुरुषों को ज्ञान-चक्षु देता था भूले-भटके पथभ्रष्ट जनों को सन्मार्ग प्रदर्शित करता था। इसी प्रकार वह चक्षु के समान था।

जब आनद गाथापति अपनी सत्प्रवृत्ति से राजा और प्रजा के लिए मेढीभूत, प्रमाणभूत, आधारभूत, आलम्बनभूत और चक्षुभूत बना तभी वह बड़े-बड़े राजा-रईसों से लेकर साधारण जनता के अनेक कार्यों में, अनेक कारणों में, अनेक गूढ समस्याएँ हल करने में, गुत्थिया सुलझाने में, अनेक रहस्यपूर्ण कार्यों में, निश्चय करने में, व्यावहारिक कार्यों में एक वार पूछने योग्य ही नहीं वरन् अनेक वार पूछने योग्य बना। इस उल्लेख से स्पष्ट जान पड़ता है कि आनद ने नगरपति की योग्यता प्राप्त करने के लिए कितने सद्गुण प्राप्त किये थे।

शास्त्रकार का कथन है कि आनन्द ने चौदह वर्ष तक श्रावक के व्रत पालन किये और इतने समय तक वह नगर-स्थविर का उत्तर दायित्व सभाले रहा। इसके बाद वह जब वृद्ध होगया। निर्बलता

भागते और नगरपति का कर्त्तव्य बजाने योग्य शरीरसंपत्ति कमती न हो गई तब उसने नागरिकों को आमन्त्रित करके उनके समक्ष अपने पुत्र को यह भार सौंपा। यह उत्तरदायित्व ग्रहण करने के लिए उसने पुत्र को शिक्षा दी और नागरिकों से निवेदन किया—आज तक जिन-जिन बातों के लिए आप लोग मुझ से सलाह मशविरा लिया करते थे, उन बातों के लिए अब आप मेरे पुत्र से सलाह करना। आज से मैं इस उत्तरदायित्व से मुक्त होता हूँ। इस प्रकार नगर के और नाम ही अपने घर के सब काम-काज छोड़ कर आनन्द जीवन-शुद्धि के लिए आध्यात्मिक साधना में मग्न होगया और आत्मकल्याण की प्रवृत्ति करने लगा।

आनन्द गाथापति सरीखे सच्चे नगरस्थविर जिस नगर को प्राप्त होते हैं वह नगर धन्य है। उसका अभ्युदय हुए बिना नहीं रहता।

नगर, ग्राम की अपेक्षा काफी बड़ा होता है। अतएव अकेला नगरस्थविर पूरी तरह सारे नगर की सार-संभाल नहीं कर सकता। उसे सहायकों की आवश्यकता होती है। नगरस्थविर को सहायता देने के लिए नगर के विभिन्न भागों के नगर-व्यवस्थापक बनाए हों तो कार्य सरलता से और अच्छे प्रकार से हो सकता है। आजकल भी नगरों में स्थविर अर्थात् मेयर या म्युनिसिपल कमिश्नर होते हैं। मगर सुना गया है कि उनसे नगर-वासियों को पर्याप्त लाभ नहीं पहुँचता। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि बड़े-बड़े नगरों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि वहाँ आधे

दिन के तरह-तरह अत्याचार-अनाचार, चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्म प्रचुर परिमाण में पाये जाते हैं। इससे नगर निवासियों को अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। यह 'मेयर' या म्युनिसिपल कमिश्नर इन कुप्रवृत्तियों का बन्द करने की कुछ भी चेष्टा नहीं करते और उनका कार्य-क्षेत्र प्राय इतना संकुचित होता है कि वे ऐसी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए हस्तक्षेप भी नहीं कर सकते। इनका मुख्य कार्य नगरको स्वच्छ रखना है, मगर वह भी पूरी तरह उनसे नहीं होता और आजकल के नगरों में मलेरिया, प्लेग आदि भयंकर रोग घर बनाये रहते हैं।

आज के अधिकांश नगरस्थविर अपना प्रतिष्ठा-वृद्धि के लिए ही इस पद पर चिपटे रहते हैं। उनमें सच्ची सेवा-भावना का अभाव होता है। यही कारण है कि आज नगर-धर्म लुप्तप्राय हो रहा है और नागरिकों का जीवन विकृत बन गया है।

ग्राम-नायक की अपेक्षा नगरनायक का उत्तरदायित्व अधिक है, क्योंकि नगर राष्ट्रदेह का मस्तिष्क है। जब कि ग्राम हाथ-पैर के समान हैं। मस्तिष्क का प्रभाव समूचे शरीर पर पड़े बिना नहीं रहता।

किसी प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथ में, 'सथागार' में, जिसे आजकल अंग्रेजी भाषा में Town hall-टाउन हाल कहते हैं, होने वाली संघ की सभाओं का स्वतन्त्रता पूर्वक निर्भयता के साथ, परन्तु संयम और विवेक से परिपूर्ण होने वाली चर्चाओं का और उसमें सम्मिलित होने वाले नागरिकों के उल्लास का

भागते और नगरपति का कर्त्तव्य बजाने योग्य शरीरसम्पत्ति उसकी न रह गई तब उसने नागरिकों को आमन्त्रित करके उनके समक्ष अपने पुत्र को वह भार सौंपा। यह कर्त्तव्यभार ग्रहण करने के लिए उसने पुत्र को शिक्षा दी और नागरिकों से निवेदन किया—आज तक जिन-जिन बातों के लिए आप लोग मुझ से सलाह मशविरा लिया करते थे, उन बातों के लिए अब आप मेरे पुत्र से सलाह करना। आज से मैं इस उत्तरदायित्व से मुक्त होता हूँ। इस प्रकार नगर के और साथ ही अपने घर के सब काम-काज छोड़ कर आनन्द जीवन-शुद्धि के लिए आध्यात्मिक साधना में मग्न होगया और आत्मकल्याण की प्रवृत्ति करने लगा।

आनन्द गाथापति सरीखे सच्चे नगरस्थविर जिस नगर को प्राप्त होते हैं वह नगर धन्य है। उसका अभ्युदय हुए बिना नहीं रहता।

नगर ग्राम की अपेक्षा काफी बड़ा होता है। अतएव अकेला नगरस्थविर पूरी तरह सारे नगर की सार-संभाल नहीं कर सकता। उसे सहायकों की आवश्यकता होती है। नगरस्थविर को सहायता देने के लिए नगर के विभिन्न भागों के नगर-व्यवस्थापक अलग हों तो कार्य सरलता से और अच्छे प्रकार से हो सकता है। आजकल भी नगरों में स्थविर अर्थात् मेयर या म्युनिसिपल कमिश्नर होते हैं। मगर सुना गया है कि उनसे नगर-वासियों को पर्याप्त लाभ नहीं पहुँचता। बम्बई, कलकत्ता मद्रास आदि बड़े-बड़े नगरों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि वहाँ आये

की रक्षा में अपनी और प्रजा की रक्षा मानता और नगरधर्म के विनाश में अपना और प्रजा का विनाश समझता था। एक बार उसकी कसौटी का दिन आ पहुँचा।

महामाहन के नगर पर किसी दुश्मन ने चढ़ाई की। उसने नगर की स्त्रियों को, बालकों को और बूढ़ों को क्रूरता के साथ सताना आरम्भ किया। महामाहन उस समय वृद्धावस्था में था। वृद्धावस्था के कारण उसका हाड-पिंजर शरीर जीर्ण-शीर्ण हो गया था। पाँच कदम चलने की भी शक्ति उसमें न रह गई थी। इस प्रकार का वृद्ध महामाहन नगर-स्थविर की हैसियत से अपने जीवन का अन्तिम कर्त्तव्य बजाने आगे आया। उसकी आत्मा तिलमिला उठी। वह बिस्तर पर पड़ा न रह सका। किसी प्रकार धीरे-धीरे चलकर वह दुश्मनों के बीच आया और ललकार कर बोला-'सावधान! छल-कपट से तुम्हें यह सफलता मिल गई है। नगर में लूट मचाने से तुम्हें कोई रोक नहीं सकता, मगर इस नगर की एक भी स्त्री पर, बालक पर या वृद्ध पर अत्याचार न करने की व्यवस्था तुम्हें करनी होगी। लुटेरा राजा बूढ़े की बात सुनी अनसुनी कर देता है। बूढ़ा महामाहन जलते हुए हृदय से, फिर-फिर नागरिकों की जीवरक्षा के लिए आवेदन करता है। मगर दगाबाज दुश्मन पर उसका कुछ भी असर नहीं होता। वह सिर्फ इतना स्वीकार करता है-'तुम मेरी माता के पालक हो। मैं तुम्हारा अधिकार स्वीकार करता हूँ, मगर उसकी

वृत्तांत पढ़ो तो विश्वास हुए बिना न रहेगा कि उस युग में, जिसे साधारणतया जैनयुग कहा जाता है, नगरधर्म अपनी अंतिम कोटि तक पहुँच गया था। प्राचीन ग्रन्थों में इस संबन्ध के बिखरे उल्लेख यहाँ वहाँ मिलते हैं।

धर्म का आत्मार्थ के अर्थ सर्वस्व का उत्सर्ग करना अपने साहित्य और इतिहास का प्रधान स्वर है ही, मगर सच्चे नागरिक की हैसियत से अपने कर्तव्य का पालन करने में हमारे पूर्वजों ने जो बलिदान किये हैं उनकी किसी भी समुन्नत, सुसंस्कृत और स्वतन्त्र देश के साथ सानिमान तुलना की जा सकती है। यह ग्रामधर्म और नगरधर्म कब शिथिल हुए और किस प्रकार अंत में वे शास्त्रों के पृष्ठों पर ही सुशोभित रह गये, यह हमें नहीं मालूम मगर सच्चा ग्रामधर्म क्या है और नगरधर्म की रक्षा के लिए नगरनायक को कितना त्याग करना पड़ता है, यह बात आज भी हम जानते हैं और नीचे लिखे उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाती है।

वैशाली नगरी में महामाहन नामक नगरनायक था। वह राजा और प्रजा दोनों का प्रेम-पात्र था। महामाहन, राजा और प्रजा के पारस्परिक स्नेहबन्धन को सदैव मजबूत रखने का प्रयत्न करता था। उसके नेतृत्व में वैशाली की प्रजा आनन्दपूर्वक रहती थी। उसकी कार्यप्रणाली से सभी को संतोष था। वह नगरनायक के उत्तरदायित्व को भली रीति जानता था। नगरधर्म उसके लिए अपने प्राणों से भी अधिक मूल्यवान था। वह नगरधर्म

हुए थे। नगर की रक्षा के लिए वृद्ध महामाहन ने अपना शरीर त्याग दिया था।

जैनयुग के नगरधर्म के सम्बन्ध में महामाहन का यह एक ही उदाहरण बस है। महामाहन का जीवन ही नगरधर्म पर जीवित भाष्य है। जहाँ इतना मँहगा मोल चुका कर धर्म और ग्रामधर्म का पालन किया जाता है, वहाँ समृद्धि और स्वतन्त्रता का देवदुर्लभ दृश्य दिखाई पड़े तो इसमें अचरज की बात ही क्या है?

यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि इन धर्मों को किसी ने पारलौकिक धर्म के अर्थ में प्ररूपित नहीं किया है। यह लौकिक धर्म हैं और लौकिक सुख तथा कल्याण के लिए ही इनका उपयोग किया जाता था। फिर भी यह स्पष्ट है और निर्विवाद है कि जहाँ ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, कुलधर्म, गणधर्म तथा संघधर्म विनष्ट हो जाता है वहाँ सूत्रधर्म एवं चारित्रधर्म-जो पारलौकिक धर्म हैं खतरे में पड़े बिना नहीं रहते। सामान्य बुद्धि से भी यह बात समझी जा सकती है।

आज अगर कोई यह समझता है कि-सच्चा जैन ग्राम, नगर राष्ट्र से एकदम अलिप्त रहता है, उसके लिए धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु महत्त्व की नहीं है तो मानना चाहिए कि यह नगरधर्म की निरी अवगणना है-धर्म के मूल पर कुठाराघात है।

ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म अपने ऐतिहासिक भंडार

सीमा यही है कि तुम अपने कुटुम्ब सहित सही-सलामत रहो। विश्वास रक्खो, तुम्हारा बाल बाँका न होगा।

महामाइन अकेले अपनी सही-सलामती नहीं चाहता था। वह नगरस्थविर की हैसियत से अपना कर्तव्य अदा करना चाहता था। जब नगर के हजारों स्त्री-पुरुष आर्तनाद कर रहे हों तब अकेले अपने कुटुम्ब को बचाने की उसकी इच्छा न थी। प्राणों से भी अधिक प्यारा नगरप्रेम उसके अन्तर में क्षोभ पैदा कर रहा था। आक्रमणकारी राजा को उसने खूब समझाया, खूब प्रार्थना की। अन्त में राजा ने एक छूट दी। कहा—

'महामाइन! इतनी छूट मैं दे सकता हूँ। तुम पानी में डुबकी मारो और तुम्हारे ऊपर आने से पहले जितने नागरिक, जितनी सम्पत्ति लेकर भाग जाना चाहें भाग सकते हैं।'

राजा की यह अपार रात वृद्ध महामाइन बिना आगा-पीछे सोचे स्वीकार करने के लिए तत्पर हो गया।

महामाइन अपना भराक शरीर लिये नदी के पानी में उतरा। उसने डुबकी मारी और पानी के नीचे तल-भाग पर पहुँच कर किसी पेड़ की जड़ से चिपट गया। मिनिट पर मिनिट और फिर घटे पर घंटे समाप्त हो गए मगर महामाइन ऊपर न आया। नगर के स्त्री-पुरुषों को अभयदान मिला। अन्त में खोज करने पर महामाइन का अचेतन शरीर नदी के तल में मिल सका। वृक्ष की जड़ के साथ उसके हाथ-पैर नागपाश की भाँति अकड़े

३

राष्ट्रस्थविर–राष्ट्रपति

[रट्ठथेरा]

जो व्यक्ति अपने सर्वस्व का त्याग कर, अपने प्राण भी राष्ट्र के पुनीत चरणों में अर्पण कर देता है वही व्यक्ति राष्ट्र का नेतृत्व ग्रहण करके राष्ट्र के उत्थान का यश प्राप्त करता है।

ग्राम और नगर के उद्धार में राष्ट्र का उद्धार है और उनके विनाश में राष्ट्र का विनाश सन्निहित है। इसका कारण यह है कि राष्ट्र नाम की कोई अलग वस्तु नहीं है–ग्राम और नगर मिल कर ही राष्ट्र कहलाते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि ग्रामों और नगरों की समृद्धि पर ही राष्ट्र की समृद्धि निर्भर है। ग्राम और नगर का उत्थान एवं पतन ग्रामनायक और नगरनायक के हाथ में है। ग्रामनायक और नगरनायक अगर बुद्धिमान, शक्तिशाली और प्रभावशाली हों और अपनी समूची शक्ति का उपयोग ग्रामोद्धार एवं नगरोद्धार के लिए करें तो राष्ट्रपति का कार्य अत्यन्त कठिन होने पर भी सुगम और प्रशस्त बन जाता है।

की अमूल्य धर्मसंपत्ति है। आज दरिद्रता के युग में इसका संरक्षण करना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है।

नगरनायक की योग्यता कैसी होनी चाहिए, इस बात को समझने के लिए आनन्द गाथापति और महाशतक गाथापति को आदर्श बनाया जा सकता है। इन आदर्शों पर चलते हुए, नगरनायकों के नगरोद्धारके कार्यमें नागरिक अगर पूरा भाग लें तो नागरिकता रूप जो मानव जीवन को विकसित करने का एक महागुण है, विकास हो सकता है। नागरिकता से धर्मसंस्कृति का पोषण होता है। नगरधर्म का पालन करके धर्मसंस्कृति को समुन्नत बनाना प्रत्येक नागरिक का परम कर्त्तव्य है।

नगरधर्म की महत्ता समझकर, जब नागरिकता का गुण प्रकट किया जायगा तब ग्रामोद्धार नगरोद्धार और राष्ट्रोद्धार के साथ ही साथ जैनधर्म का भी उद्धार होगा और जैनधर्म के उद्धार के साथ विश्वशान्ति का भी उदय होगा।

३

राष्ट्रस्थविर–राष्ट्रपति

[रट्ठथेरा]

जो व्यक्ति अपने सर्वस्व का त्याग कर, अपने प्राण भी राष्ट्र के पुनीत चरणों में अर्पण कर देता है वही व्यक्ति राष्ट्र का नेतृत्व ग्रहण करके राष्ट्र के उत्थान का यश प्राप्त करता है।

ग्राम और नगर के उद्धार में राष्ट्र का उद्धार है और उनके विनाश में राष्ट्र का विनाश सन्निहित है। इसका कारण यह है कि राष्ट्र नाम की कोई अलग वस्तु नहीं है–ग्राम और नगर मिलकर ही राष्ट्र कहलाते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि ग्रामों और नगरों की समृद्धि पर ही राष्ट्र की समृद्धि निर्भर है। ग्राम और नगर का उत्थान एवं पतन ग्रामनायक और नगरनायक के हाथ में है। ग्रामनायक और नगरनायक अगर बुद्धिमान, शक्तिशाली और प्रभावशाली हों और अपनी समूची शक्ति का उपयोग ग्रामोद्धार एवं नगरोद्धार के लिए करें तो राष्ट्रपति का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत होने पर भी सुगम और प्रशस्त बन जाता है।

अनेक ग्रामों के संयोग से नगर बनता है और अनेक नगरों का समूह एक प्रांत कहलाता है। एक राष्ट्र में अनेक प्रान्त होते हैं उन प्रान्तों में वेशभूषा, बोल चाल खानपान, रीतिरिवाज आदि की भिन्नता भले हो, पर वे सब एक राष्ट्रधर्म के बंधन में बंधे होते हैं। समस्त प्रान्त एक ही धर्म-ध्वज की छत्र-छाया में बसे हुए हैं इस प्रकार के राष्ट्रधर्म का भान राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिए। राष्ट्रपति के अनेक कर्त्तव्यों में से एक प्रधान कर्त्तव्य यह भी है कि राष्ट्रपति जनसमाज में एक राष्ट्रधर्म की भावना उत्पन्न करे और राष्ट्रधर्म की रक्षा के लिए आत्मसमर्पण की शक्ति उत्पन्न करे। वही राष्ट्रपति राष्ट्रोद्धार के महत्त्वपूर्ण कार्य में सफलता प्राप्त करता है जो राष्ट्र के प्रत्येक निवासी में अपने त्याग द्वारा राष्ट्रीयता का भाव जागृत करता है। आप राष्ट्रधर्म की मर्यादा का पालन करता है और दूसरों से कराता है और जो राष्ट्र के अभ्युदय के लिए तन-मन धन की परवाह किये बिना ही उसमें निरन्तर संलग्न रहता है। ऐसे महात्मा व्यक्ति को शास्त्रकारों ने 'राष्ट्रस्थविर' शब्द से सम्बोधित किया है। उसके लिए आजकल 'राष्ट्रपति' शब्द व्यवहार किया जाता है। 'राष्ट्रपति' शब्द में स्वामित्व का भाव मौजूद है, जब कि 'राष्ट्रस्थविर' शब्द उसकी एक विशेषता को ही प्रकट करता है।

राष्ट्रस्थविर सम्पूर्ण राष्ट्र का एक मात्र प्रतिनिधि है। वह राष्ट्र-देह का हृदय है, राष्ट्र का सच्चा सेवक है, पालक है, व्यवस्थापक

है। राष्ट्रस्थविर के आदेश का पालन करना राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है। और प्रजाके सुख-दुखकी चिन्ता करना प्रजा की सुख-शाति के लिए, दुख निवारण के लिए फॉसी पर चढने तक की क्षमता होना, यह राष्ट्रस्थविर का कर्त्तव्य है। जिस देश की प्रजा राष्ट्रस्थविर की आज्ञा शिरोधार्य नहीं करती और जो राष्ट्रस्थविर प्रजा के राष्ट्रधर्म का अनादर करता है, उस राष्ट्र का उत्थान नहीं होता। इस प्रकार राष्ट्रोत्थान का कार्य राष्ट्रस्थविर और राष्ट्रीय-प्रजा दोनों पर अवलंबित है। जिस राष्ट्र में राष्ट्रस्थविर और प्रजा का संबन्ध स्नेहमयी आत्मीयता से युक्त होता है, समझना चाहिए वही राष्ट्र उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है।

राष्ट्रस्थविर कैसा होना चाहिए और उसका कर्त्तव्य क्या है? इस प्रश्न के समाधान के लिए इतिहास के पन्ने पलटने के बदले भारत-हृदय के सम्राट् महात्मा गांधी का प्रत्यक्ष उदाहरण अधिक सुगम होगा। गांधीजी के जीवनव्यवहार ने राष्ट्रस्थविर का स्वरूप समस्त संसार के समक्ष प्रकाशित कर दिया है। गांधीजी का जीवन-चरित्र बतलाता है कि राष्ट्रस्थविर को कितनी कितनी मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं और उन मुसीबतों में से उसे किस प्रकार पार होना पड़ता है।

राष्ट्रस्थविर को राष्ट्र की पोशाक का, खानपान का और रीति-नीति का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। राष्ट्रस्थविर में अपने राष्ट्रके प्रति इतनी सद्भावना और इतनी ममता होती है कि वह स्वदेश के वातावरण के अनुसार ही भोजन-पान आदि

रखता है। विदेश की चमकीली-भड़कीली प्रतीत होने वाली पोशाक से या रीतिरिवाजों से उसका मन लुभा नहीं जाता।

आज अनेक भारतीय लोगों ने राष्ट्रधर्म की उपेक्षा करके ऐसी रीति-नीति अपनाई है कि वे भारतवासी होते हुए भी आचार-विचार से अंग्रेज बने रहते हैं। आश्चर्य है कि उन्हें राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय पोशाक और स्वदेशी खान-पान तक पसंद नहीं आता। ऐसे लोग अंग्रेजों का अन्ध-अनुकरण करने में ही अपना गौरव और सौभाग्य समझते हैं। वे भले ही ऐसा करने में गौरव समझें और सौभाग्य मानें पर वास्तविकता यह है कि उनका यह कृत्य राष्ट्र के लिए अपमान है, दुर्भाग्य है, शाप है क्योंकि उससे भारतीय प्रजा में अपनी संस्कृति के प्रति हीनता का भाव उत्पन्न होता है और उससे मानसिक गुलामी की जड़ मजबूत होती है।

आज हमारे राष्ट्र में राष्ट्रधर्म से विरुद्ध जो रीति-नीति स्वच्छन्दता के साथ प्रचलित हो गई है उसका प्रधान कारण प्रजा के हृदय का दौर्बल्य है। अपने आपको समाज का नेता मानने वाले अनेक सज्जन परदेश जाते हैं और वहाँ राष्ट्रधर्म को भूलकर विदेशी रीति-रिवाजों को स्वीकार कर लौटते हैं और फिर उन्हें अपने देश में प्रचलित करते हैं। महात्मा गांधी की 'आत्मकथा' पढ़ने से समझा जा सकता है कि विदेश जाकर भी मनुष्य को अपने चारित्र की रक्षा किस प्रकार करना चाहिए।

गांधीजी जब परदेश जाने लगे तो उनकी माताजी को भय हुआ कि मेरा लड़का मांस मदिरा का सेवन कर भ्रष्ट न होजाय। इस भय से वे गांधीजी को बेचर स्वामी नामक एक काठियावाड़ी साधुमार्गी जैन मुनि के पास ले गई। उन्होंने मुनि से कहा—'महाराज श्री! अगर यह परदेश में मांस-मदिरा तथा परस्त्री का सेवन न करने की आपके समक्ष, प्रतिज्ञा करे तो मैं इसे परदेश जाने की आज्ञा दे सकती हूँ। गांधीजी ने प्रतिज्ञाएँ अंगीकार कीं और विलायत गये। वहाँ अनेक प्रलोभनों ने गांधीजी को अपनी प्रतिज्ञाओं से च्युत करना चाहा, परन्तु दृढ़-प्रतिज्ञ गांधीजी टस से मस न हुए। इसी दृढ़ता की बदौलत आज वह महात्मा बन सके हैं। अगर गाँधीजी अपनी प्रतिज्ञाओं पर अटल न बने रहते तो, आज वह जिस कोटि पर पहुँच सके हैं, उस पर पहुँच पाते या नहीं, यह एक प्रश्न है।

जो व्यक्ति अपने सर्वस्व का त्याग कर, अपने प्राण भी राष्ट्र के पुनीत चरणों में अर्पण कर देता है, वही व्यक्ति राष्ट्र का नेतृत्व ग्रहण करके राष्ट्र के उत्थान का यश प्राप्त करता है। गांधीजी ने अपने आत्मभोग और त्यागभाव के द्वारा राष्ट्र का सुन्दर नेतत्व किया है और 'राष्ट्रस्थविर' पद को सार्थक कर दिखाया है। उनका समग्र जीवन 'राष्ट्रस्थविर' पद की व्याख्या है।

कुछ लोग यह प्रश्न करते हैं कि-'गांधीजी ने राष्ट्र का नेतृत्व

स्वीकार कर हमारा क्या भला किया है? उन्होंने स्वराज्य के नाम पर लाखों रुपये एकत्र किये, मगर उससे हमारी रत्तीभर भी भलाई न हुई। इस दशा में उन्हें 'राष्ट्रस्थविर' कैसे कहा जा सकता है?'

ऐसा प्रश्न करने वाले से मैं पूछना चाहता हूँ कि गांधीजी ने जो रकम इकट्ठी की उसका उपयोग उन्होंने क्या व्यक्तिगत लाभ के लिए किया है? हर्गिज नहीं। इसी प्रकार गांधीजी पर व्यापार चौपट करने का अभियोग लगाना निराधार है। गांधीजी ने अपने जीवन में देश का व्यापार नष्ट करने के लिए, एक भी कदम नहीं उठाया। उल्टे, वह देश के व्यापार को समृद्ध बनाने का ही प्रयत्न करते आये हैं। उनका यह कथन किससे छिपा है कि अपने देश का माल ही उपभोग में लेना चाहिए। इसीमें राष्ट्र का कल्याण है। अपने देश का कच्चा माल विदेश भेजकर, वहाँ उससे बना हुआ पक्का माल मंगाने का अर्थ है, अपनी एक रुपया की चीज विदेश भेजकर वही चीज—अधिक कीमत चुकाकर खरीदना।

उदाहरणार्थ—एक रुपया की दो सेर रुई खरीद कर विदेश भेजना और विदेश में उस रुई में चर्बी लगाकर जो वस्त्र तैयार किये जाएँ उन्हें दस रुपया देकर खरीदना। यह व्यापार नहीं लूट है। आज भारतवर्ष एक रुपया की चीज देकर फिर उसी को दस गुनी कीमत चुकाकर खरीद रहा है। इससे देश को आर्थिक हानि तो है ही, साथ ही धार्मिक हानि भी है।

स्वदेश अर्थात् अपना देश। अपने देश में बनी हुई चीज स्वदेशी कहलाती है। कौन ऐसा देशद्रोही मनुष्य होगा जो अपने

देश की बनी चीज न चाहता हो। स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना प्रत्येक स्वदेशप्रेमी का पवित्र कर्त्तव्य है। स्वदेश का उद्धार उसी दिन से आरम्भ होगा जिस दिन देशवासी स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना सीखेंगे।

अगर कोई मनुष्य खुद ही अपनी माता का अपमान करता है तो दूसरे लोग उसका अपमान करते क्यों हिचकेंगे? जब भारतवासी ही स्वदेशी वस्तुओं का तिरस्कार करके, विदेशी वस्तुओं को अपना कर, भारतमाता का अपमान करते हैं तो विदेशी लोग क्यों न उसका अपमान करें?

विदेशी लोगों में और चाहे जितने अवगुण हों पर उन लोगों में स्वदेशप्रेम का जो सुन्दर गुण रहा हुआ है उसका प्रत्येक भारतीय को अनुकरण करना और अपने जीवन में उतारना चाहिए। स्वदेशप्रेम राष्ट्रीय जागृति का चिह्न है। जिस देश के निवासियों में स्वदेशप्रेम नहीं है उस देश को जीवित नहीं, मुर्दा समझना चाहिए। अगर हमें राष्ट्र का हित करना है तो स्वदेशी वस्तुओं को जल्दी से जल्दी अपनाना होगा। इसी में राष्ट्र का कल्याण है।

विदेशी वस्तुओं का विक्रय बन्द हो जाय और स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार का प्रचार हो जाय तो राष्ट्र के लाखों-करोड़ों गरीबों को, जिन्हें पहनने को वस्त्र और खाने को भरपेट अन्न नहीं मिलता, अन्न-वस्त्र मिल सकता है। इस प्रकार स्वदेशी

वस्तुओं के व्यवहार से करोड़ों गरीबों को सुख-शान्ति पहुँचाई जा सकती है यह राष्ट्रस्थविरों का कथन है।

विदेशी वस्तुओं का विक्रय बन्द होने से और स्वदेशी का प्रचार होने से वस्त्रों के बण्डल और गांठों की गांठें विदेशी माल मँगाने वाले कतिपय व्यापारियों को आर्थिक क्षति पहुँच सकती है पर विचारशील राष्ट्रनायकों का कथन है कि एक ही साथ सभी को लाभ पहुँचे और हानि किसी को भी न हो यह दोनों बातें राष्ट्रधर्म में शक्य नहीं हैं। अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ पहुँचे यही राष्ट्रधर्म में शक्य हो सकता है। राष्ट्र-नेताओं के इस कथन पर विचार करने से यह बात बुद्धिगम्य और सत्य प्रतीत होती है, यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि जो धर्म राष्ट्र के अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ पहुँचाता है वही राष्ट्रधर्म है। इस स्थिति में कोई भी स्वदेशप्रेमी थोड़े से विदेशी वस्तुओं के व्यापारियों के लाभ के लिए करोड़ों आदमियों का अकल्याण कैसे सहन कर सकता है? विदेशी वस्तु के व्यापारी को स्वयं समझ लेना चाहिए कि—हमें अपने लाभ के लिए अपने करोड़ों देश-भाइयों की सुख-शान्ति लूटने का क्या अधिकार है? हम दूसरों के अन्न-वस्त्र पर कैसे लात मार सकते हैं? व्यापारियों को तो अपने अन्य भाइयों के हित के लिए स्वार्थ-त्याग करना चाहिए और गरीब भाइयों के दुःख में भागीदार बनना चाहिए। जो व्यक्ति सदा अपने ही स्वार्थ में संलग्न रहता है, राष्ट्रधर्म को भुला देता है और मेधावी जैसे राष्ट्रद्रोही और,

सेवापरायण महात्मा पर अनुचित आक्षेप करता है उसने अपने जीवन का ध्येय ही नहीं समझा है। हाँ, गांधीजी से किसी का किसी बात में मतभेद हो सकता है पर राष्ट्रधर्म की दृष्टि से उनका राष्ट्रधर्म का आदर्श न मानना और उस आदर्श की उल्टी अवगणना करना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है, यह स्वदेशप्रेम भी नहीं है।

सुनते हैं, इसी भारतवर्ष में किसी समय एक रुपये के छः मन चावल, और एक रुपये का तीस सेर घी मिलता था। तब कपड़े का क्या भाव होगा? दरअसल प्राचीन काल में भारतवर्ष धन-सम्पदा से खूब भरपूर था।

प्राचीन काल में रुपये की खनखनाहट भले ही अधिक न सुनाई पड़ती हो, मगर उस समय देश धनसम्पन्न और धान्य-सम्पन्न था। उस समय आज की भांति भोजन मिलना कठिन न था। आज भारत न श्रीसम्पन्न है, न धान्यसम्पन्न ही। भारत-वासियों ने अपने हाथों से आज विदेशी माल की कुल्हाड़ी से, भारत की जड़ काट डाली है। अगर हम उस कल्पवृक्ष के मधुर फल फिर चखना चाहते हैं तो विदेशी माल की कुल्हाड़ी हमें दूर फेंक देनी होगी और जिन हाथों से कल्पवृक्ष की जड़ काटी है उन्हीं हाथों द्वारा स्वदेशी माल के जल-सिंचन से उसे नव-पल्लवित करना पड़ेगा। तब उस कल्पवृक्ष की शीतल छाया में अनेक श्रमजीवी अपने श्रम को हल्का कर सुख शांति का अनुभव करेंगे।

पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज का कथन था कि जिस समय अन्न वस्त्र सस्ते और सोना-चांदी मँहगा हो वह पुण्यकाल और सोना चाँदी सस्ता तथा अन्नवस्त्र मँहगा हो वह पाप-काल अथवा दुर्भाग्य का समय समझना चाहिये। क्योंकि सोने चांदी से जीवन की कोई आवश्यकता पूर्ण नहीं होती, जब कि अन्न और वस्त्र जीवनधारण के लिये अनिवार्य हो गये हैं। समझना चाहिए कि जिस राष्ट्र में जीवन की अनिवार्य आवश्यकता अन्न वस्त्र की पूर्ति हो रही है वह राष्ट्र प्रगति की ओर प्रयाण कर रहा है और जिस राष्ट्र में अन्न-वस्त्र की पूर्ति नहीं होती वह अधःपतन की ओर अग्रसर हो रहा है। राष्ट्र की उन्नति और अवनति को परखने के लिए यह कसौटी है। राष्ट्रोन्नति का द्वार खोलने की यह चाबी जब हमारे हाथ आ जाएगी तब समझ लीजिए-हमने भारत की उन्नति का मार्ग खोज निकाला है। इस समय राष्ट्रोन्नति का द्वार बन्द है। इस द्वार को खोलने के लिए अन्न वस्त्र की आवश्यकता स्वयं पूर्ण करने के लिए चाबी की खोज करनी चाहिए। पहले कहा जा चुका है कि ग्रामोद्धार और नगरोद्धार करने से ही राष्ट्र का उद्धार हो सकता है।

राष्ट्रनायकों के इस कथनमें संदेहकी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि ग्राम ही अन्न और वस्त्र की उत्पत्ति का स्थान है और नगर अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करने का स्थान है। जब ग्राम और नगर-राष्ट्र

देह के हाथ पैर स्वस्थ एवं सबल हो जायेंगे तो राष्ट्रदेह उन्नत-मस्तक होकर चल फिर सकेगा। हमें यह बात भलीभांति समझ लेनी चाहिए कि राष्ट्रोद्धार में अपने धर्म का उद्धार निहित है और राष्ट्र के अध पतन पर अपना और अपने धर्म का अध पतन अवलंबित है। इस सत्य को समझकर, इसके अनुसार वर्त्ताव करने से राष्ट्र का हित अवश्य होगा और साथ ही अपना तथा अपने धर्म का भी। अपना व्यक्तिगत स्वार्थ-भाव छोडकर राष्ट्रोद्धार के सबन्ध में विचार किया जाय तो राष्ट्र को सुखी बनाने का उपाय और उसके संबन्ध में अपना कर्त्तव्य स्वयं जान पडने लगेगा। व्यक्ति का राष्ट्र के प्रति क्या कर्त्तव्य है, यह बात निम्नलिखित दृष्टांत से समझी जा सकती है—

किसी भक्त पर देव प्रसन्न हुआ। देव ने कहा—'हे भक्त! तेरा भक्ति-भाव देखकर मैं तुझ पर प्रसन्न हूं। तू दो वस्तुओं में से कोई एक वस्तु माग ले। तू चाहे तो बड़े-बडे आम, नारंगी आदि के मधुर फल वाले वृक्ष दूं अथवा गेहूं बाजरा के छोटे२ पौधे देदूं। इच्छा हो सो माग ले।'

भक्त ने कहा—'हे देव! आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे गेहूँ बाजरा के छोटे-छोटे पौधे ही वरदान में दीजिए। मुझे उन्हीं की आवश्यकता है। मधुर फलों वाले विशालकाय वृक्ष मुझे न चाहिए।'

देव को आश्चर्य हुआ। पूछा-'हे भक्त! तू मधुर फल वाले वृक्षों को छोड, गेहूँ-बाजरे के छोटे पौधे क्यों माँगता है?'

बुद्धिमान् भक्त ने कहा—बड़े-बड़े वृक्षों के मीठे फलोंसे अमीरों उमरावों के मौज का काम चल सकता है उनसे जन-साधारण की भूख नहीं मिट सकती। मगर गेहूँ बाजरे के पौधे गरीब और अमीर दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी हैं। अतएव मैंने अमीरों के मौज-शौक का ख्याल न करके जनसाधारण के लिए अनिवार्य उपयोगी वस्तु-अन्न को पसंद किया है।

देव अपने भक्त पर प्रसन्न हुआ और वरदान देकर चला गया इस प्रकार जब तक मनुष्य अपना स्वार्थ त्याग कर विश्व की सुख-सुविधा का विचार नहीं करता तब तक राष्ट्र के कल्याण की शुभ भावना उसके अन्तर में उत्पन्न नहीं होती। राष्ट्र का कल्याण जनसाधारणके कल्याण में ही है। राष्ट्रधर्म इस बातका तीव्र विरोध करता है कि सम्पन्न लोगों को सब प्रकार की सुख-सुविधाएं मिलें और बेचारे गरीब किसान तथा मजूर परिश्रम एवं पसीना के आंसू में पिसते रहें; फिर भी भरपेट अन्न न पावें। राष्ट्रधर्म जनसमाज के हित देखता है। जनसमाज के हित में ही अमीर गरीब सब का हित समाया है। राष्ट्रधर्म समभाव का पोषक है। उसे न अमीरों से अनुराग है, न गरीबों से विराग है। अन्याय-अत्याचार का विरोध करके जनता में सुख-शान्ति का संचार करना राष्ट्रधर्म का ध्येय है।

जहाँ स्वार्थ ने प्रवेश किया नहीं कि राष्ट्रधर्म का ध्येय नजरों से ओझल हो जाता है, अतएव राष्ट्रीयता की भावना की मूल

निःस्वार्थ भावना में है। जहां निःस्वार्थभाव, सहृदयता, सहानुभूति, देश प्रेम, नहीं है वहाँ राष्ट्रीय भावना जागृत नहीं होती।

जिस प्रवृत्ति के द्वारा संसार का कल्याण होता है वह धर्मप्रवृत्ति कहलाती है और जिससे संसार का अकल्याण-पतन होता है वह पापप्रवृत्ति कही जाती है। इसी दृष्टिविन्दु को सामने रखकर शास्त्रकारों ने ग्रामधर्म, नगरधर्म राष्ट्रधर्म आदि लौकिक धर्मों की तथा स्थविरों की व्याख्या की है।

यह खेद की बात है कि भारतवर्ष में आज राष्ट्रधर्म लुप्त-प्राय हो रहा है। राष्ट्र की दुर्गति का यही कारण है। लोग राष्ट्र-धर्म से विलग रहने में ही अपना कल्याण माने बैठे हैं। विचार करने से मालूम होगा कि उनकी यह मान्यता भूल भरी है। राष्ट्रधर्म के प्रताप से, जिस देश में सघन स्नेहभाव था, द्वार पर ताला लगाने की भी आवश्यकता नहीं होती थी, उसी देश-भारतवर्ष में राष्ट्रधर्म के अभाव के कारण, घर-घर क्लेश की आग सुलग रही है, अविश्वास और वैर-विरोध की वृद्धि हो रही है, यहाँ तक कि पिता-पुत्र और पति-पत्नी में भी वह पार-स्परिक विश्वास शेष नहीं रहा है। आज पिता पुत्र से, पुत्र पिता से; पति, पत्नी से अपना भेद छिपाने की चेष्टा करता है। खाद्य वस्तुओं पर भी, घर के भीतर ताला लगाया जाता है। जहाँ देखो तहाँ, राष्ट्रधर्म की ठीक व्यवस्था न होने से, चोरी, डकैती हत्या, व्यभिचार आदि अत्याचारों का दौर दिखाई देता है। मगर अंधकार में आशा की एक किरण चमकती नजर आ रही

है। राष्ट्र की चेतना मानों अवसा कर जागना चाह रही है। उसकी चिरनिद्रा भंग होती जान पड़ती है। राष्ट्र की उन्नतिके लिए विचार-विनिमय किया जा रहा है और जनसाधारण में राष्ट्रीयता के प्रति सहिष्णुता एवं सहानुभूति जागृत हो रही है। जान पड़ता है, वह मंगल-दिवस बहुत दूर नहीं है जब राष्ट्रधर्म की समुचित व्यवस्था होगी और राष्ट्रधर्म के ध्येय-स्व प्रजा तथा विश्वशान्तिको प्राप्त करने के लिए राष्ट्र का बच्चा-बच्चा उद्योगशील बनेगा। उस दिन, कृतयुग का राष्ट्रधर्म विश्वशान्ति के साम्राज्य में राज्यव्यवस्था करता दृष्टिगोचर होगा।

भारत कृषिप्रधान देश है। कृषि करके जगत् का पालन-पोषण करने वाले किसान ग्रामों में बसते हैं, इसलिए भारत देश ग्रामों में बसता है।

जिस बगीचे में आम के हजार वृक्ष होते हैं, वह 'अमराई' (आम्रवाटिका) कहलाती है। उसमें दस-बीस पेड़ जामुन या नीबू के भले ही हों पर उसे कोई 'जामुनवाड़ी' या 'नीबूवाड़ी' नहीं कहता। इसी प्रकार भारतवर्ष में गरीब जनता अधिक है और अमीर तथा सेठ-साहूकार बहुत थोड़े हैं। इस स्थिति में भारतवर्ष गरीबों का देश है अमीरों और सेठ-साहूकारों का नहीं। अतएव भारत की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था गरीबों को लक्ष्य बनाकर ही की जा सकती है-अमीरों को लक्ष्य कर नहीं। बड़े-बड़े सेठ साहूकारोंका सुख गरीबोंकी कृपा पर निर्भर है।

अतएव गरीबों की रक्षा न की जाय और सेठ-साहूकार अपने धनबल से अधिकाधिक धन संचित करते जाएँ तो देश को सुखी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि देश गरीबों का है, अमीरों का नहीं। अतएव जब तक गरीब दुखी हैं तब तक देश दुखी है और जब गरीब सुखी होंगे तभी देश सुखी कहलाएगा। सच्चा राष्ट्रधर्म वही है जो भारत के जीवनधन-गरीब भारतीयों की खोज-खबर लेता है। अन्न और वस्त्र के लिये मरने वाले तथा परस्पर विद्रोह करके एक दूसरे के वैरी बनने वाले गरीबों के लिए जब तक पर्याप्त अन्न और वस्त्र का प्रबन्ध नहीं होता तब तक राष्ट्र-धर्म अपूर्ण है।

आज कितनेक स्वार्थी लोग, राष्ट्रधर्म की अवगणना करके, अपनी आँखों पर स्वार्थ का चश्मा चढ़ाकर, बेचारे गरीबोंका अन्न-वस्त्र छीन रहे हैं और उनके जीवन-मरण तक का विचार नहीं करते। वे अपनी तिजोरियाँ भरने में ही मशगूल हैं। ऐसे स्वार्थी लोगों को अब राष्ट्रधर्म का पहला पाठ पढ़ाने की आवश्यकता है। जब उन्हें राष्ट्रधर्म का किंचित् बोध होगा तो उनके नेत्र खुलने लगेंगे और तब उनकी स्वार्थपरायणता भी कम हो सकेगी।

आज भारतवर्ष की स्थिति कितनी भयानक है, यह खयाल ही बहुतों को नहीं है। बहुतों को खयाल करने की चिन्ता भी प्रतीत नहीं होती। उन्हें दुनिया भर के बाजार के भाव-ताव जानने की जितनी चिन्ता रहती है, उतनी अपने देश की स्थिति

सामने की नहीं रहती। पर उन्हें समझ रखना चाहिए, जिस दिन भयंकर स्थिति की भयंकरता फूट पड़ेगी उस दिन दुनिया के बाजार भाव उन्हें पनाह नहीं दे सकेंगे, तिजोरियां उनकी रक्षा न कर सकेंगी। उस दिन उन्हीं गरीबों की शरण में आश्रय लेना होगा, जिन्हें आज नफरत की निगाह से देखा जाता है, जिनका अपमान किया जाता है और जिन्हें मात्र हाड़-मांस का निर्जीव पुतला समझा जा रहा है। यह सत्य चाहे कटुक हो पर हितकारी है और अब बिना अधिक विलम्ब किये इसे समझ लेना चाहिए। राष्ट्रधर्म की शरण में गये बिना कोई चिरकाल तक सुखी नहीं रह सकता। राष्ट्रधर्म जनसमाज का रक्षक और पोषक धर्म है।

एक घर में एक मनुष्य पेट भर खाता है, भूख न होने पर भी ठूंस-ठॉस कर किसी प्रकार माल बिगाड़ता है जबकि बाकी के दस मनुष्यों को भरपेट रूखी-सूखी रोटी तक नसीब नहीं होती। क्या ऐसे आपा-पोषी मनुष्य को कोई सज्जन कह सकेगा? नहीं।

इस देश में आज यही अव्यवस्था चल रही है। इस सीधी सादी बात को बहुत कम लोग समझते हैं। जहाँ गरीबों के प्रति सहानुभूति ही नहीं रह गई है वहां राष्ट्रधर्म की भावना किस प्रकार जागृत हो सकती है?

भारतवर्ष में लगभग छह करोड़ से भी ज्यादा मनुष्य हैं, जिन्हें सिर्फ एक जून खाना मिलता है अर्थात् उन्हें पेट भर खाना नसीब नहीं होता। जहां खाने की यह कठिनाई है वहां कपड़ों की कठिनाई का अन्दाज लगाना सहज है। जहाँ कांग्रेस भी बतलाती

यह है वहीं उन्हीं कंगालों के खून के पसीने से धनाढ्य बने हुए मुट्ठी भर लोग अपने राग-रङ्ग में खान-पान में, ब्याह शादी में, भोजों में और तरह तरह की पार्टियों में आँखे मींचकर धन का दुर्व्यय करते देखे जाते हैं। उन्हें अपने गरीब भाइयों की ओर आँख उठाकर देखने की फुर्सत नहीं। यह कितनी कृतघ्नता है ? जिन गरीबों की बदौलत वह धनिक बने हैं, सेठ साहूकार कहलाते हैं, रईसी भोगते हैं, उन्हीं की दुर्दशा का विचार तक न करना वास्तव में घोर स्वार्थीपन और अमानुषिकता है।

अपनी स्वार्थपरता को कई लोग फिलासफी के रंग में रंगने की चेष्टा करते हैं। कहने लगते हैं— गरीबों ने पूर्व जन्म में पाप किया है सो इस जन्म में उसका फल भुगत रहे हैं। अन्तरायकर्म का उदय है-भोगोपभोग मिल नहीं सकते, तब उनकी मदद करने से क्या लाभ होगा ? मगर परमार्थ का ज्ञाता पुरुष ऐसा विचार नहीं कर सकता। वह जानता है-जो गरीब मनुष्य अन्तरायकर्म से दुखी है उसी मनुष्य पर दया करनी चाहिए। वही दया का पात्र है। अगर गरीब पर दया न की जायगी तो क्या धन-कुबेर दया के पात्र होंगे ? जो दुखी नहीं है-जिसे संसार का सारा वैभव प्राप्त है उसे दान देने या उस पर दया करने का उपदेश देने की क्या आवश्यकता है ? बुद्धिमान् पुरुष सोचता है कि जिन गरीबों के उद्योग से मुझे सफलता मिली है, उनके सुख-दुख में साझीदार होना मेरा धर्म है-कर्त्तव्य है।

उपकार करने के प्रसंग पर 'यह इनके कर्मों का फल है' कहकर दुःखी जनों की सहायता न करना उपकार वृत्ति को देशनिकाला देना है। यह निर्दयता है।

जिस प्रकार श्रीमन्ताई अपने आप में सद्गुण नहीं है, उसी प्रकार गरीबी कोई अपराध नहीं है। आज जो श्रीमान् है, वह सदैव श्रीमान् रहेगा और जो दरिद्र है वह सदा के लिए दरिद्र रहेगा, ऐसा कोई शाश्वत नियम नहीं है। यह सब अवस्थाएँ गाड़ी के पहिये की भाँति बदलती रहती हैं। विवेकशील पुरुष वैभव की गोद में फूल नहीं जाता और गरीबी पाकर घबरा नहीं जाता।

सच्चा राष्ट्रप्रेमी वह है जो अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति समझता है। उसके मन में वह उस सम्पत्ति का 'ट्रस्टी' मात्र होता है। अतएव राष्ट्र की आवश्यकता के समय वह अपनी तिजोरी बन्द नहीं रख सकता। राष्ट्रधर्म का रहस्य राष्ट्र स्थविर के हाथ में सन्निहित है। राष्ट्रधर्म संबन्धी प्रेम राष्ट्रीयता का भाव जगाता है। जिस राष्ट्र के निवासियों में अपने राष्ट्र के प्रति श्रद्धा नहीं है, अनुराग नहीं है, उस देश का कभी उद्धार होना कठिन ही समझिए।

यह कितने खेद की बात है कि आज अधिकांश भारतीयों में राष्ट्रधर्म के प्रति सद्भाव भी नहीं है। पाश्चात्य लोगों में राष्ट्र के प्रति कितना सद्भाव है यह बात एक सत्य घटना के उल्लेख से ज्ञात हो जाती है।

सागर में एक श्रावक थे। वह देशी और विदेशी-दोनों प्रकार की वस्तुओंका व्यापार करते थे। एक बार किसी अङ्गरेज ने उनकी दुकान से चावल खरीदने के लिए अपना नौकर भेजा। दुकानदार के पास दोनों तरह के चावल थे, परन्तु देशी चावल अच्छे और सस्ते थे। साहब को अच्छे चावल देने के इरादे से उसने देशी चावल नौकर को दे दिये। नौकर चावल ले, चला गया। साहब ने चावल देखे तो लाल-पीला हो गया। नौकर को कुछ भला-बुरा कहा। अन्त में नौकर को हुक्म दिया-इसी समय जाकर देशी चावल लौटा आओ और विदेशी खरीद लाओ।

भागा-भागा नौकर दुकान पर पहुँचा। सेठजी से सब हाल कहा। सेठजी ने चावल लौटा लिए और चौगुनी कीमत वसूल कर परदेशी चावल तोल दिये।

कुछ दिनों बाद सेठजी की उसी साहब से मुलाकात हुई। सेठजी ने चावलों की अदलीबदली का कारण पूछा। साहब ने कहा-'विलायती चावल खरीदने से उसकी कीमत हमारे देशवासियों को मिलती है। हम ऐसे मूर्ख नहीं है, जो विदेश में आकर अपने देश भाईयों को भूल जाएँ और अपने देश का माल न खरीदें। हमारे लिए स्वदेश प्रथम है-दूसरे देश फिर। हम देशद्रोह करके अपना जीवन कलंकित नहीं करना चाहते।'

सेठजी साहब का देशप्रेम देख चकित रह गये। उन्होंने तभी स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यापार करने की प्रतिज्ञा कर ली।

पाश्चात्यों के देशप्रेम का एक और उदाहरण जानने योग्य है—

बम्बई में एक अंगरेज ने अपने नौकर को बूट खरीदने भेजा। नौकर देशी दुकान से एक सुन्दर बूट की जोड़ी पाँच रुपये में खरीद ले गया। उस अंगरेज ने बूट देखे। उसकी निगाह वहाँ गई जहाँ लिखा था—Made in India. इन शब्दों को देखते ही अंगरेज आगबबूला हो गया। बोला—'गधे कहीं के, यह देशी बूट क्यों लाया?'

नौकर ने कहा—साहब आप पहन देखें। बूट सुन्दर हैं और टिकाऊ भी।

साहब—देशी बूट कितने ही सुन्दर और टिकाऊ हों मुझे नहीं चाहिए। तू यह वापस कर आ। मेरे लिए विलायती बूट, किसी अंगरेज कम्पनी से खरीद ला। इसके दाम की चिन्ता मुझे नहीं करनी है।

नौकर देशी व्यापारी के पास गया और बूट के विषय में आप-बीती सुनाई। उस भले व्यापारी ने बूट लौटा लिए। फिर वह नौकर अंगरेजी कम्पनी में गया और कई गुनी कीमत चुकाकर बूट-जोड़ा खरीद ले गया। साहब ने बूट देखे। Made in England देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। नौकर ने डरते-डरते पूछा हुजूर, यह कीमत में भारी हैं टिकाऊ भी वैसे नहीं हैं और खूबसूरती में भी उतने नहीं हैं। फिर आपने पहले वाले बूट न लेकर यह क्यों पसन्द किये? साहब बोले—इंगलिश कम्पनी से खरीदे

हुए बूट मेरे देश की बनी वस्तु हैं। वह कैसे भी क्यों न हों, मुझे प्रिय है। अपने देश की चीज खरीद कर मैं अपने देश के प्रति प्रेम प्रकट करता हूँ। जिस देश में मेरा पालण-पोषण हुआ है, उसकी अवगणना मैं कैसे कर सकता हूं। सात समुद्र पार आकर भी, जब मैं अपने देश की बनी वस्तु देखता हूं तो देश की सुखद स्मृति मेरे दिल में हिलोरें मारने लगती है। मेरा मस्तक देश के लिए झुक जाता है। मेरा देश मेरे लिए देव है। मैं देवता की भाँति अपने देश की पूजा करता हूँ।'

यह उदाहरण कल्पित नहीं हैं। यह घटी हुई सची घटनाएँ हैं। इन उदाहरणों से हमें राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति जो शिक्षा मिलती है, वह भारतवासियों को सीखना चाहिए। इसमें से अपने देश की स्वतन्त्रता का मूल मंत्र मिल सकता है। पाश्चात्य लोगों ने 'देश हमारा देव है और स्वदेशी वस्तु उस देव का प्रसाद है' इस राष्ट्रीय भावना को अपने जीवन में मूर्त्त रूप दिया है। इसी मूर्त्त भावना के कारण वह स्वतन्त्रता का सुख अनुभव कर रहे हैं। वह सात समुद्र लांघकर हजारों मील की दूरी पर, भारत में आये हैं, मगर क्षण भर के लिए अपना देश नहीं भूलते। उनकी राष्ट्रभक्ति का इसीसे परिचय मिलता है।

और भारतीय ? उनकी हालत एकदम उलटी है। भारतीय अपने देश में रहते हुए भी, देश परतन्त्र और पतन की अवस्था में है-इस बात को जानते हुए भी, विदेशी वस्त्रों और अन्य वस्तुओं का व्यवहार करने में गौरव मानते हैं। देश के लिए यह

बड़े से बड़ा कलंक है। इस कलंक को दूर करने पर ही भारत का मुख उज्ज्वल हो सकता है।

विदेशी वस्त्र एवं अन्य वस्तु का व्यवहार, राष्ट्रीय दृष्टि से घोर पाप है ही साथ धार्मिक दृष्टि से भी निषिद्ध है। भला जिस विदेशी वस्त्र में चर्बी का उपयोग करने के लिए करोड़ों पशुओं का निर्दयतापूर्वक वध किया जाता है, उस वस्त्र का उपयोग भारतीय—जिनका आदर्श अहिंसा है—किस प्रकार कर सकते हैं? जैनधर्म की दृष्टि से विदेशी और ऐसी ही अन्य वस्तुएँ, जिनके लिए पंचेन्द्रिय प्राणियों का घात किया जाता है, अगर हेय हैं तो इसमें शंका की गुंजाइश ही नहीं है। विदेशी वस्त्र का व्यवहार स्पष्ट ही हिंसात्मक है, अतएव त्याज्य है। विदेशी वस्त्र का व्यवसाय धर्म भ्रष्ट करने वाला है।

जिस देश के मनुष्य अपने देश की तथा अपने देश की वस्तुओं की कद्र करना नहीं जानते उस देश के मनुष्यों की कद्र दूसरे देश में नहीं होती। साधारण गाँव में अगर कोई अंग्रेज—फिर भले ही वह बावर्ची ही क्यों न हो, पहुँच जाता है तो भारतीय लोग 'साहब आये' कहकर उसका आदर करते हैं; इसके विपरीत विदेशों में भारतीयों की कद्र कितनी होती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। कौन नहीं जानता, दक्षिण अफ्रीका में 'कुली बैरिस्टर' शब्द से महात्मा गांधी की कद्र की जाती थी। भारत के सम्मान्य नेताओं को भी विदेश में अपमानित होना पड़ता है; इसके मूल कारण का पता लगाया जाय तो ज्ञात होगा

कि अपनी भूल ही शत्रु की भाँति दुःख दे रही है। जब भारतवर्ष का जनसमाज अपना राष्ट्रधर्म भूलकर विदेशी वस्तुओं को अपनाता है, तब उसका दुष्परिणाम, भारतीय होने के नाते गांधीजी और रवीन्द्रनाथ जैसे आदर्श नेताओं को भी भोगना पड़ता है।

हृदय जब तक राष्ट्रधर्म से ओतप्रोत नहीं होता तब तक राष्ट्रप्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता। और राष्ट्रप्रेम के अभाव में राष्ट्रोन्नति नहीं हो सकती। राष्ट्र के उद्धार के लिए त्याग-भावना और सहिष्णुता की अपेक्षा रहती है। भारतीयों के पतन का मुख्य कारण राष्ट्रधर्म और उसके प्रचारक एवं व्यवस्थापक राष्ट्रस्थविरों का अभाव है। राष्ट्रोद्धार के पुनीत यज्ञ में, राष्ट्र-स्थविरों को अपनी समस्त शक्तियाँ समर्पित कर देनी पड़ती हैं। प्रत्येक उन्नत राष्ट्र इस बात का जीता-जागता प्रमाण है कि सर्वस्व समर्पण किये बिना किसी भी राष्ट्र का उद्धार नहीं हो सकता। गाँव-गाँव और नगर-नगर में राष्ट्रसेवकों के जो स्मारक खड़े किये जाते हैं, वे स्मारक अपनी मौनमयी भाषा में राष्ट्रोद्धार के लिए जीवनोत्सर्ग-आत्मबलिदान-शहीदी-का पाठ पढ़ाते हैं।

महाराणा प्रताप राष्ट्र का सच्चा तेज पुंज था। वह स्वतंत्रता-देवी का सच्चा सपूत था। इस नर-वीर ने स्वतंत्रता-देवी और भारतमाता की रक्षा के लिए राजपाट छोड़ा, वैभव-विलास ठुकराया और स्वेच्छा से गरीबी गले लगाई। उसने अठारह वर्ष तक अरवली पहाड़ों में, तरह-तरह की मुसीबतें झेलीं। धूप,

उसके मन भूख न थी, ठंड उसके मार्ग में बाधक न थी। खानेको अन्न न मिलता तो घासके बीजकी रोटियाँ खाकर ही रह जाता पर उसने विदेशियों द्वारा स्वदेशको अपमानित न होने दिया। महाराणा प्रताप की महारानी पद्मावती जो राजमहलों में सुखपूर्वक रहती थी अपने प्राणप्रिय पति की सेवा के लिए पहाड़ों में रहने लगी और पति के सुख-दुख की भागीदार बनकर उसने अपना नाम भी सार्थक किया। राणा की संतान रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए करुण क्रन्दन करने लगी। तब प्रताप जैसा प्रतापी पुरुष भी एक बार अस्थिर हो उठा। पर वह गंभीर कष्टों और मुसीबतों से नहीं डरने वाला था। वह तो पराधीनता से डरता था। स्वदेश की स्वतंत्रता के हेतु वह अपने प्राण भी हँसते-हँसते त्याग सकता था। स्वदेश की स्वतंत्रता उसे इतनी प्रिय थी कि उसके लिए उस वीरश्रेष्ठ ने संसार के समस्त भोग-विलास ठुकरा दिये और स्वेच्छा से कष्ट एवं दुःख अंगीकार किये।

किसी भी देश की प्रजा में जब तक स्वतंत्रता के लिए त्याग और साहस की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती तब तक राष्ट्रधर्म का भलीभाँति पालन नहीं किया जा सकता और उस स्थिति में न तो राष्ट्र की उन्नति हो सकती है न प्रतिष्ठा कायम हो सकती है।

जिस देश में प्रताप जैसे स्वतन्त्रता के पुजारी ने जन्म लिया उसी देश की प्रजा आज राष्ट्र के प्रति अपनी कर्तव्यनिष्ठा भूली हुई है। कैसा आश्चर्य!

हम जिस देश का अन्न खाते हैं, उसे अगर भूल जाते हैं तो इससे

बड़ी कृतघ्नता और नहीं हो सकती । हमारे पास कौन-सी ऐसी चीज है जिसका देश के साथ सम्बन्ध नहीं है ? तो जिस राष्ट्र के उपकार से जीवनव्यवहार चलाते हैं, उस उपकारी राष्ट्र का भी अपकार करना कितनी अमानुषिकता है ?

भारतवर्ष में अज्ञान-अंधकार इतना अधिक फैला हुआ है कि राष्ट्रीय-भावना की ज्योति कहीं दिखाई नहीं देती। इसी अज्ञान की बदौलत भारत के पैरों में पराधीनता की बेड़ियाँ पड़ी हैं। सतोष की बात यही है कि राष्ट्रस्थविरों के सतत प्रयत्न से राष्ट्रीय-भावना की चिनगारियाँ कहीं-कहीं नजर आने लगी है।

मैं पूछता हूँ कि समस्त संसार को अज्ञान-अंधकार से तारने वाले तीर्थंकर भगवान् कहाँ जन्मे थे ? इसी भारतभूमि में।

जिस भारतभूमि को तीर्थंकरों ने अपने चरणन्यास से पावन बनाई है, जिस भूमि पर विचर कर उन महात्माओं ने जन समाज को सत्य धर्म का उपदेश दिया है, उस भूमि का कितना माहात्म्य है ? भारतभूमि वास्तव में पवित्र भूमि है, पुण्यभूमि है, धर्मभूमि है।

भूशास्त्रविशारदों ने भारतभूमि की प्रकृति का ठीक-ठीक अध्ययन कर बतलाया है कि भारतभूमि पारसभूमि है। इस भूमि में मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है। यह देश आत्मनिर्भरता की दृष्टि से स्वतन्त्र है। किसी भी वस्तु के लिए उसे किसी से याचना करने की जरूरत नहीं है। इसके विपरीत, सुना जाता है कि इंग्लैण्ड आदि कई एक

पाश्चात्य देशों में आलू वगैरह तो पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होते हैं मगर गेहूँ आदि खाद्य पदार्थ, जिनके बिना जीवनव्यवहार चल नहीं सकता, बहुत कम होते हैं। अगर भारत या अन्य किसी उपजाऊ देश से वहाँ गेहूँ का निर्यात न किया जाय तो उन देशों के निवासियों को धान के लाले पड़ जाएं। यह बात हमारे यहाँ नहीं। अगर कोई भी चीज यहाँ बाहर से न आवे तो भी हमारा निर्वाह बखूबी हो सकता है। भारतवर्ष की यह विशेषता है। भारत अगर स्वतंत्र हो तो सम्पूर्ण विश्व को सुख-शांति पहुँचाने का सामर्थ्य उस में आज भी मौजूद है। पर दीर्घकालीन पराधीनता उस शक्ति को चूसती जा रही है।

भारतभूमि में गंगा यमुना जैसी अनेक विशाल और सुखदायक नदियाँ बहती हैं और हिमालय जैसा अद्वितीय ऊंचा पर्वत उसकी रक्षा करता है। प्रकृति देवी जिस भारत देश की सेवा करती है, वहां अगर स्वाभाविक सुख-शांति हो तो आश्चर्य की बात ही कौनसी है ? किसी कवि ने ठीक ही कहा कि—जिस देश में जितने ऊँचे पर्वत होते हैं, उस देश के महापुरुष भी भावना की दृष्टि से उतने ही ऊँचे होते हैं।

भगवान् महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण जैसे महापुरुषों की भेंट भारत ने विश्व को अर्पित की है। भारत ऐसी रत्नगर्भा भूमि है! ऐसी पवित्र भूमि का अपमान हो इस भूमि के पुत्र विदेशियों के बन्धन में पड़े हो यह कितने संताप का विषय है ? इस पर भीष्म दशा का प्रधान कारण राष्ट्र के प्रति हृदय में सद्भाव न होना और राष्ट्रस्थविर की आज्ञा को अन्तर से स्वीकार न करना

है। युगधर्म के प्रताप से राष्ट्रधर्म के प्रति श्रद्धाभाव और राष्ट्रस्थविर के प्रति भक्तिभाव प्रकट होता जा रहा है यह आनन्द की बात है।

देश के नायकों का कथन है कि जो मनुष्य अपने राष्ट्र के मानापमान का ध्यान नहीं रखता, उस मनुष्य का मान त्रिकाल में भी नहीं बढ पाता।

राष्ट्र के उद्धार में अपना, समाज का और धर्म का उद्धार है, इस सत्य को जो राष्ट्रसेवक स्वीकार करता है उसे निश्चय कर लेना चाहिए कि स्वदेशी वस्त्र या स्वदेशी वस्तु का व्यवहार करने में स्वदेश का, समाज का और धर्म का उद्धार है और विदेशी वस्त्र एव अन्य वस्तुओं के व्यवहार में स्वदेश, समाज और स्वधर्म का नाश समाया हुआ है। धार्मिक दृष्टिकोण से इस बात पर विचार करोगे तो तुम्हारा निश्चय अधिक दृढ हो जाएगा।

राष्ट्र का गौरव बढाना प्रत्येक राष्ट्र-प्रजा का पवित्र दायित्व है, और इस दायित्व का भान प्रजा को, अपने त्याग द्वारा कराना तथा देश को गौरवान्वित करना राष्ट्रपति का दायित्व है।

राष्ट्रोद्धार के लिए आवश्यक है कि प्रजा राष्ट्रधर्म के आगे नतमस्तक हो और राष्ट्रनायक का आदेश शिरोधार्य करे।

—— o ——

४

प्रशास्ता-स्थविर-संरक्षक-स्थविर

[पसत्था थेरा]

गुरुदेवो भव

प्रशास्ता-स्थविर मानवसमाज का संरक्षक है। वह जैसी शिक्षा-संस्कृति मानव हृदय में उतारेगा मानवसमाज की भावी प्रजा वैसी ही होगी।

जनता के जीवन में धर्मभावना जागृत रखने के लिए शिक्षा प्रचार एक अमोघ साधन है। शिक्षाप्रचार द्वारा राष्ट्र, समाज और धर्म के बंधन शिथिल हो जाते हैं या छिन्न भिन्न हो जाते हैं। शिक्षा का ध्येय भी बंधन से मुक्त होना है—'सा विद्या या विमुक्तये।'

मानवसमाज पराधीनता अज्ञान निर्बलता निरुत्साह वासना आदि बंधनों से बँधा है। वह विषम परिस्थितियों से जकड़ा हुआ है। उसकी अन्तरात्मा अकुलाती रहती है। इन समस्त बंधनों से छुड़ाना विद्या है। वही शिक्षा है, वही तालीम है।

जिसके द्वारा शरीर रोगों एव दुर्बलताओं से छूटता है, बुद्धि अज्ञान और कुत्सित विचारों से छूटती है, हृदय कठोरता और कुसंस्कारों से छूटता और आत्मा कर्मों के आवरण से छूटती है, वह शिक्षा है, विद्या है, तालीम है।

सच्ची शिक्षा आत्मा की नैसर्गिक रस-वृत्ति को संपटना से मुक्त करती है। शक्ति को मद से मुक्त करती है। आत्मा को कृपणता एव अहंकार के पंजे से मुक्त करती है।

वास्तविक शिक्षा आत्मा की नैसर्गिक विशेषताओं को, उनकी विरोधी शक्ति एव विकृतियों से मुक्त करके, निरावलिम्ब विकसित स्वरूप प्रदान करती है। इसीसे मानवजीवन का संस्कार होता है और वह संस्कार मानव को परमात्म पद पर प्रतिष्ठित करता है।

मानवसमाज को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षा देनेका उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य प्रशास्ता-संरक्षक अर्थात् माता, पिता, शिक्षक, धर्मगुरु आदि स्थविरों के सुपुर्द है। प्रशास्ता-स्थविर मानवसमाज का संस्कर्त्ता है। वह जैसी शिक्षा-संस्कृति मानवहृदय में उतारेगा, मानवसमाज की भावी घड़न वैसी ही होगी। इस प्रकार मानवसमाज का भविष्यनिर्माण प्रशास्ता-स्थविर के हाथ में है।

जिसके हाथ मे विश्व का महत्तम कार्य है, वह प्रशास्ता-स्थविर कौन हो सकता है? उनमें कितनी और किस प्रकार की योग्यता

होना चाहिए ? इस संबन्ध में विचार करना आवश्यक है। इस संबन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—

'प्रशासति—शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तारः—धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थविराः।'

अर्थात्—राष्ट्र को मानो प्रजा का जो शिक्षा—दीक्षा देता है, और जो धर्मोपदेशक या शिक्षक अपनी शिक्षा के प्रभाव से शिष्यों को कर्त्तव्यपरायण बनाता है, वह प्रशास्तास्थविर कहलाता है। 'प्रशास्ता' की व्याख्या में जो गूढ़ अर्थ छिपा है वह विशेष रूप से विचार करने योग्य है।

राष्ट्र की भावी प्रजा, आज के नन्हें—नन्हें बालक हैं। बालकों को बचपन में, घर में, माता—पिता द्वारा शिक्षण—संस्कार मिलता है। घर के शिक्षण में भले ही अक्षरज्ञान न हो, फिर भी बाल्य—काल में माता—पिता द्वारा जो शिक्षण दिया जाता है, वह बालक के जीवन का भविष्य—निर्माण करता है और इस कारण वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

बाल्यकाल में माता-पिता ही बालकों के सच्चे प्रशास्ता—शिक्षक हैं पाठ्यपुस्तकों द्वारा, शिक्षकों द्वारा या धर्मगुरुओं द्वारा जो भी शिक्षण दिया जाता है, वह बाल—मानस में इतना जीवन स्पर्शी नहीं होता जितना माता—पिता द्वारा शैशवकाल में प्रदत्त संस्कार होता है। जिन्होंने बाल—मनोविज्ञान का अध्ययन किया है, वे सब इसी नतीजे पर पहुँचे हैं।

बाल-मानस इतना अधिक निर्मल होता है कि जैसे संस्कारों की छाप उन पर अंकित की जाय, वह बहुत शीघ्र, स्थायी रूप में अंकित हो जाती है।

बालजीवन को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने के लिए घर ही पाठ्यपुस्तक है। माता-पिता ही बालक के सच्चे शिक्षक हैं और सुन्दर आचार-विचार ही उनकी सच्ची शिक्षा है। जैसे नीति-नियम, बर्त्ताव, धार्मिक विचार माता-पिता के होंगे, वैसे ही संस्कार उनके बालक में प्रतिबिम्बित होंगे। स्पष्ट है कि भावी प्रजा के-जीवन की संस्कारिता का उत्तरदायित्व माता-पिता पर अत्यधिक है।

'माता-पिता भी शिक्षकों का काम देते हैं' यह कथन जितना सत्य है, उतना ही आदरणीय और आचरणीय है। मगर माता-पिता अगर सुशिक्षित और सुसंस्कृत हों तभी उनकी प्रजा वैसी बन सकती है। अतएव माता या पिता का पद प्राप्त करने से पहले ही मनुष्य को शिक्षित और संस्कारी बनना आवश्यक है।

बालक का जीवन अनुकरणीय होता है। वह बोलने-चालते, खाते-पीते, और कोई भी काम करते घर का और विशेषत माता-पिता का ही अनुकरण करता है। क्या बोलचाल, क्या व्यवहार, क्या मनोवृत्तियां, और क्या अन्य प्रवृत्तियाँ, उन्हीं लोगों की नकल होती हैं, जो सदा उसके आसपास रहते हैं और जिनके प्रति उसके हृदय में

होना चाहिए ? इस संबन्ध में विचार करना आवश्यक है। इस संबन्ध में शास्त्रकार कहते हैं—

'प्रशासति-शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तारः-धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थविराः।'

अर्थात्-राष्ट्र को भावी प्रजा को जो शिक्षा-दीक्षा देता है, और जो धर्मोपदेशक या शिक्षक अपनी शिक्षा के प्रभाव से शिष्यों को कर्त्तव्यपरायण बनाता है, वह प्रशास्तृस्थविर कहलाता है। 'प्रशास्ता' की व्याख्या में जो गूढ़ अर्थ छिपा है वह विशेष रूप से विचार करने योग्य है।

राष्ट्र की भावी प्रजा, आज के नन्हें-नन्हें बालक हैं। बालकों को छुटपन में, घर में माता-पिता द्वारा शिक्षण-संस्कार मिलता है। घर के शिक्षण में भले ही अक्षरज्ञान न हो, फिर भी बाल्यकाल में माता-पिता द्वारा जो शिक्षण दिया जाता है, वह बालक के जीवन का भविष्य-निर्माण करता है और इस कारण वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

बाल्यकाल में माता-पिता ही बालकों के सच्चे प्रशास्ता-शिक्षक हैं पाठ्यपुस्तकों द्वारा,शिक्षकों द्वारा या धर्मगुरुओं द्वारा जो भी शिक्षण दिया जाता है वह बाल-मानस में इतना चीरंत स्पर्शी नहीं होता जितना माता-पिता द्वारा शैशवकाल में प्राप्त संस्कार होता है। जिन्होंने बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन किया है, वे सब इसी नतीजे पर पहुँचे हैं।

फिर लात-घूँसे आदि से उस अनजान और बेचारे बालक पर हमला किया जाता है।

इस क्रिया में आवेशवृत्ति हिंसा है, गाली देना हिंसा है और मारपीट करना हिंसा है। यह क्रिया आदि से अन्त तक हिंसा के सिवा और क्या है? ❀

आवेश आते ही मनुष्य भले-बुरे का भान भूल जाता है। इस भाव के अभाव में आपा का विवेक चुक जाता है। इतने से खैर नहीं होती। कभी-कभी तो इसका परिणाम अत्यन्त भयाकर होता है-इतना भयाकर कि माता-पिता को आजीवन पछताना पडता है। वास्तव में यह प्रणाली बालकों के लिए लाभ के बदले हानि उत्पन्न करती है। इससे बालक गालियाँ देना सीखता है, मारपीट करना सीखता है और सदा के लिए ढीठ बन जाता है। ढिठाई में से और अनेक दुर्गुण फूट पड़ते हैं। इस प्रकार बालक का सारा जीवन बर्बाद हो जाता है। यह सब हिंसा नहीं है तो क्या अहिंसा है? इसमें द्रव्यहिंसा है, भावहिंसा है, आत्महिंसा है, परहिंसा है।

विवेकशील माता-पिता भय की प्रणाली का उपयोग नहीं करते ये आवेश पर अंकुश रखते हैं। बालक की परिस्थिति समझने का यत्न करते हैं। उसे सुधारने के लिये घर का वातावरण सुन्दर बनाते हैं। ऐसा करने से माता-पिता के जीवन का भी

❀ प्रश्नव्याकरण सूत्र में, हिंसा के नाम गिनाते समय 'बीहनक' को भी हिंसा बतलाया गया है। बीहनक का अर्थ है-भय दिखाना। किसी को डराना हिंसा है।

नहीं हो सकता। अतएव भविष्य-कालीन प्रजा की भलाई के लिए माता-पिता को अपना जीवन संस्कारमय अवश्य बनाना चाहिए।

माता-पिता को और समाज को यह न भूल जाना चाहिए कि आज का बालक ही भविष्य का भाग्यविधाता है।

बालक जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे वह व्यावहारिक एवं धार्मिक शिक्षा लेने के योग्य बनता जाता है। बालक घर की शाला छोड़कर पाठशाला जाता है और वहां अक्षर ज्ञान सीखता है। एक ओर अक्षरज्ञान सीखकर बालक व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण करता है और दूसरी ओर धर्मस्थानकों में जाकर निस्पृह धर्मगुरुओं से नीति और धर्म की शिक्षा लेता है। इस प्रकार दोहरी शिक्षा रूपी दो पंखों से वह उन्नति के असीम व्योम में विचरण करने का सामर्थ्य प्राप्त करता है और जीवन की समग्रता साधता है।

पाठशाला में माता-पिता का स्थान शिक्षक को मिलता है। शिक्षक, बालकों को अपना पुत्र समझकर शिक्षा दे, तो वह अपना शिक्षकधर्म निभाता है। बालक अपनी किशोर अवस्था में शिक्षा का संचय करता है। आजकल की शिक्षाप्रणाली उसे शिक्षा-दान देकर ही कृतार्थ मान लेती है, मगर एक अत्यन्त आवश्यक बात की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। वह बात है- शिक्षा को जीवन में मूर्त्त रूप देना। शिक्षा को सिर्फ दिमाग में स्थान देने से, उसे जीवनव्यवहार में एकरस न बनाने से, शिक्षा

विकास होता है और बालक के जीवन का भी। वे भलीभांति जानते हैं कि बालक अगर रोता है तो बमका इलाज डराना नहीं है रोने के कारण को खोज कर दूर करना है। इसी प्रकार बालक में अगर कोई दुर्गुण या व्यसन हो गया है तो उसे वह अपनी ही किसी कमजोरी का फल समझते हैं-समझना चाहिए। संरक्षक की किसी दुर्बलता के बिना बालक में दुर्गुण क्यों पैदा हो ? इस अवस्था में उसके वास्तविक कारण का खोज निकालना और दूर करना ही असली इलाज है। समझदार माता-पिता ऐसे प्रसंग पर धैर्य से काम लेते हैं।

भय डराने वाले और डरने वाले के अन्तरंग या बहिरंग मर्म पर अनेक प्रकार से आघात करता है। अतएव यह स्पष्ट है कि भय हिंसा रूप है। आत्मा के गुणों का घात करने वाली प्रवृत्ति करना हिंसा है और जो ऐसी प्रवृत्ति करता है वह हिंसक है यह आगम का विधान है।

आजकल माता-पिता को सद्धर्म की उन्नत भावना की तालीम लेने की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन में देखा जाता है कि आज के माता-पिताओं के मन कामवासना से वासित हैं। क्योंकि मन कलेशके रंग में रँगे हुए हैं और बात बात में व अश्लील वाक्-प्रहार, और अवसर मिले तो दण्ड-प्रहार करते भी संकोच नहीं करते। जहाँ यह स्थिति है वहाँ अच्छा शिक्षा और संस्कृति का संरक्षण किस प्रकार हो सकता है ?

माता-पिता का जीवन जब तक शिक्षित संस्कृत और आदर्श न बने तब तक भविष्य की प्रजा में सुसंस्कारों का सिंचन

नहीं हो सकता। अतएव भविष्य-कालीन प्रजा की भलाई के लिए माता-पिता को अपना जीवन संस्कारमय अवश्य बनाना चाहिए।

माता-पिता को और समाज को यह न भूल जाना चाहिए कि आज का बालक ही भविष्य का भाग्यविधाता है।

बालक जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे वह व्यावहारिक एवं धार्मिक शिक्षा लेने के योग्य बनता जाता है। बालक घर की शाला छोड़कर पाठशाला जाता है और वहां अक्षर ज्ञान सीखता है। एक ओर अक्षरज्ञान सीखकर बालक व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण करता है और दूसरी ओर धर्मस्थानकों में जाकर निस्पृह धर्मगुरुओं से नीति और धर्म की शिक्षा लेता है। इस प्रकार दोहरी शिक्षा रूपी दो परों से वह उन्नति के असीम व्योम में विचरण करने का सामर्थ्य प्राप्त करता है और जीवन की समग्रता साधता है।

पाठशाला में माता-पिता का स्थान शिक्षक को मिलता है। शिक्षक, बालकों को अपना पुत्र समझकर शिक्षा दे, तो वह अपना शिक्षकधर्म निभाता है। बालक अपनी किशोर अवस्था म शिक्षा का संचय करता है। आजकल की शिक्षाप्रणाली उसे शिक्षा-दान देकर ही कृतार्थ मान लेती है, मगर एक अत्यन्त आवश्यक बात की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। वह बात है- शिक्षा को जीवन में मूर्त्त रूप देना। शिक्षा को सिर्फ दिमाग में स्थान देने से, उसे जीवनव्यवहार में एकरस न बनाने से, शिक्षा

व्यर्थ हो जाती है। ऐसे लोग शिक्षित भले ही कहलावें, पर संस्कारी कहलाने का दावा नहीं कर सकते। शिक्षा उनके मस्तिष्क का बोझ मात्र होती है जब कि वह जीवन का संस्कार बननी चाहिए। अतएव शिक्षक को इस ओर पूरा लक्ष्य देना चाहिए। इसी में बालक के भावी जीवन का मानपोषण है।

बालकों का भावी जीवन सुखी बनाने के लिए व्यावहारिक शिक्षा की जितनी आवश्यकता है उससे कहीं अधिक आवश्यकता धार्मिक शिक्षा की भी है। इसका कारण यह है कि जीवन में प्रवृत्ति को जितना स्थान है उससे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान निवृत्ति को प्राप्त है। जीवन का अंतिम ध्येय परिपूर्ण निवृत्ति है। प्रवृत्ति क्लेश एवं व्याकुलता को जन्म देती है, निवृत्ति से निराकुलता, संतोष, शान्ति और एक प्रकार के अनुभवगम्य सुख की उपलब्धि होती है। अतएव निवृत्तिधर्म की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बालकों को धर्मशिक्षकों के समीप जाना चाहिए। बचपन में धर्मोपदेश सुनने से निवृत्ति-शिक्षा का अक्षरज्ञान प्राप्त होता है।

माता-पिता के, शिक्षक के और धर्मशिक्षक के जो संस्कार बाल्यावस्था में, बालक में दृढ़ हो जाते हैं वे बड़ी उम्र में दृढ़ नहीं होते। बालक प्रतिक्षण किसी न किसी प्रकार के संस्कार अपनाता रहता है। उसका हृदय दर्पण के समान है, जिस पर सामने आने वाली प्रत्येक वस्तु प्रतिबिम्बित होती ही है। ऐसी अवस्था में हम अगर बालक का हृदय अभीष्ट संस्कारों से युक्त न बनाएँगे तो वह 'अनभीष्ट' संस्कारों को ग्रहण करेगा। यही उम्र में अगर व

अनभीष्ट-अवाञ्छनीय संस्कार दृढ हो गये तो उन्हें दूर करके, नये वांछनीय संस्कारों का आरोपण करना अत्यन्त कठिन होगा। उस हालत में दोहरा परिश्रम करना पडेगा-प्रथम तो पुराने संस्कारों का, जो बद्धमूल हो चुके हैं, उन्मूलन करना, फिर नवीन संस्कारों का बीज बोकर उनका सिंचन करना,पनपाना और अंकुरित करना। अगर पुरातन अवाञ्छनीय संस्कारों की जड गहरी चली गई हो तो उन्हें जड़ से उखाड़ फैंकना अशक्य हो जाता है। उस हालत में माता-पिता पश्चात्ताप करते हैं, झल्लाते हैं, अपने भाग्य को कोसते है और अन्त में हाथ मलते रह जाते हैं। अतएव दूरदर्शी माँ-बाप और शिक्षक को उचित है कि वह बालक में, बचपन से ही धार्मिक संस्कारों का बीज बो दे। बचपन में बोये हुए संस्कार बडी उम्र में सुदृढ हो जाएँगे और फिर कुसंस्कारों को बालक के हृदय में स्थान न मिलेगा।

राष्ट्र की भावी प्रजा में बालक-बालिका, कुमार-कुमारिका, पुत्र-पुत्री-दोनों का समावेश होता है। जैसे बालकों को व्यावहारिक एवं धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता है, उसी प्रकार बालिकाओं को भी व्यावहारिक एवं धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। शिक्षा के संबंधमें पुत्र और पुत्री में भेदभाव रखना उचित नहीं है। बालिकाओं एवं कुमारिकाओं की शिक्षा का तौर-तरीका कुछ भिन्न हो सकता है, शिक्षा के कुछ विषयों में भी विभिन्नता हो सकती है-होनी चाहिए भी, परन्तु उनकी शिक्षा को वही महत्व मिलना चाहिए जो बालकों और कुमारों की शिक्षा को प्राप्त है।

जो शिक्षक पुत्र और पुत्री, बालक और बालिका में, शिक्षा-दीक्षा के विषय में भेदभाव रखता है ऊँची-नीची दृष्टि से देखता है, वह प्रशास्ता की हैसियत से अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है।

शिष्य की योग्यता के अनुकूल शिक्षा का विभाजन करना और शिक्षा के विपर्यास से बचना स्थविर का मुख्य काम है। बालकों को बालोपयोगी कुमारों को कुमारोपयोगी, युवकों को युवकोपयोगी, प्रौढ़ों को प्रौढ़ोपयोगी एवं वृद्धों को वृद्धोपयोगी तथा बालिकाओं को बालिकोपयोगी कुमारिकाओं को कुमारिकोपयोगी युवतियों को युवती-उपयोगी प्रौढ़ाओं को प्रौढ़ा-उपयोगी और, वृद्धाओं को उनके उपयोगी शिक्षा-दीक्षा देना शिक्षा की साधन-सामग्री जुटाना, उसकी समुचित व्यवस्था करना इन सब बातोंकी ओर प्रशास्ता स्थविर को विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है। इस प्रकार का विभाजन न करके सब धान बाईस पसेरी [illegible] एक-सा शिक्षा दी जायगी तो शिक्षा के विषय में बड़ा विसंवाद पैदा हो जायगा। उस हालत में शिक्षा का स्वाभाविक सुन्दर परिणाम हासिल न होकर अनिष्ट परिणाम की ही संभावना होगी। अतएव सब प्रकार के विसंवाद से बचने के लिए योग्यतानुसार शिक्षा का विभाजन करना प्रशास्ताओं का मुख्य काम है।

बालकों को जैसे मानसिक और धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता है, उसी प्रकार शारीरिक और वाचनिक शिक्षा की भी है। केवल मानसिक शिक्षा से शारीरिक एवं वाचनिक शक्तियों का विकास नहीं हो जाता और अकेली मानसिक शिक्षा फलीभूत भी

नहीं होती। यह स्मरण रखने योग्य है कि जीवन का सर्वांगीण विकास, मनुष्य की विभिन्न शक्तियों के विकास पर निर्भर करता है। इस ओर ध्यान देना प्रशास्ताओं का दूसरा कर्त्तव्य है।

प्रशास्ताओं का तीसरा कर्त्तव्य है—कुमार-कुमारिकाओं के लिए बौद्धिक शिक्षा के साथ औद्योगिक शिक्षा का प्रबंध करना। जब बौद्धिक एवं औद्योगिक शिक्षा का मेल होगा तभी शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य पूरा होगा। उद्योगशिक्षा के बिना बौद्धिक शिक्षा पंगु है-एकांगी है।

प्रशास्ताओं का चौथा कर्त्तव्य है—धार्मिक-आध्यात्मिक शिक्षा की व्यवस्था करना। जीवन के व्यावहारिक कार्यों का श्रम हलका करने के लिए आध्यात्मिक शांति की अपेक्षा होती है। और आध्यात्मिक शांति धर्मशिक्षा से मिलती है। अतएव बालक-बालिका में धार्मिक संस्कार दृढ करने के लिए धर्मशिक्षा की समुचित व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

प्रशास्ताओं का पांचवां कर्त्तव्य यह है कि शिक्षा-दीक्षा देने में किसी प्रकार का जातिभेद या वर्णभेद का सामाजिक अंतराय हो तो उसे दूर करने की चेष्टा करे। जातिभेद और वर्णभेद यह सब शिक्षा के बाधक तत्त्व हैं।

प्रशास्ताओं का छठा कर्त्तव्य है—शिक्षा में भय, तर्जना या मारपीट को जरा भी स्थान न मिलने देना। क्योंकि भयभीत या हतोत्साह विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता, अगर कोई कर भी सकता है तो भय के भूत से डर कर भूल जाता है। अतएव

विद्यार्थियों के हित के लिए, शिक्षा के क्षेत्र में से भय का सर्वथा बहिष्कार किया जाना चाहिए।

प्रशास्ताओं का सातवाँ कर्त्तव्य यह है कि विद्यार्थियों को पढ़ने समझने याद करने में सुगम, सरल और बोधप्रद पाठ्य पुस्तकों द्वारा जो राष्ट्रीय भाषा में लिखी हों, शिक्षा दें जिससे विद्यार्थियों का थोड़े समय में अधिक लाभ हो सके। और राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि हो।

प्रशास्ताओं का आठवाँ कर्त्तव्य—विद्यार्थियों के चरित्रगठन पर ध्यान देना। शिक्षा की साधना करने वाले विद्यार्थी कमोद्दीपन करने वाले साधनों का उपयोग करने लगते हैं और इस प्रकार उनकी साधना में महान् विघ्न उपस्थित हो जाता है। अतः कामोत्तेजक वातावरण उत्पन्न न होने देना और असदाचार वायुमण्डल पैदा करना प्रशास्ताओं का कर्त्तव्य है।

प्रशास्ताओं का नौवाँ कर्त्तव्य है कि वे विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा न दें जो केवल तोता रटन्त हो और दिमाग को खोखला बनाने वाली हो। विद्यार्थियों की तर्कशक्ति और अवलोकनशक्ति बढ़ाने वाली साथ ही विषय का तलस्पर्शी ज्ञान कराने वाली शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए।

प्रशास्ताओं का दसवाँ कर्त्तव्य है—विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा देना जिससे उनमें अपने राष्ट्र, राष्ट्र धर्म राष्ट्र सेवा के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न हो। अपनी मातृ-भूमि के प्रति अपने समाज के प्रति अपने धर्म के प्रति कर्त्तव्यभावना जागे। और

उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाय कि राष्ट्र, समाज एवं देश की रक्षा तथा सेवा के लिए कितनी सहिष्णुता और त्यागभावना सीखने की आवश्यकता है।

प्रशास्ताओं का ग्यारहवाँ कर्त्तव्य है—विद्यार्थियों की मानसिक अभिरुचि का सूक्ष्म निरीक्षण करना। किस विद्यार्थी की किस विषय की ओर अधिक रुचि है, उसका मानसिक झुकाव किस विषय की तरफ है, इस संबन्ध में भलीभांति जाँच करके उसे वही विषय मुख्य रूप से देना चाहिए—उसी में पारंगत बनाना चाहिए। शेष उपयोगी विषय उसके लिए गौण हो जाने चाहिए। इस तरह एक विषय में विद्यार्थी को विशारद बनाना और अन्य विषयों में उसकी रुचि पैदा करना आवश्यक है। जान पड़ता है, इस प्रकार की शिक्षा-योजना से विद्यार्थियों का पर्याप्त विकास होगा और उनका जीवनव्यवहार सुन्दर रूप से चलेगा।

साराश यह है कि कुमार कुमारिकाओं को कैसी शिक्षा, कब और किस प्रकार देनी चाहिए? इत्यादि शिक्षा सबन्धी सब प्रकार का विचार करना और तदनुकूल व्यवस्था करना प्रशास्ता का कर्त्तव्य है।

प्रशास्ता, एक क्षण के लिए भी यह बात न भूले कि उसके ऊपर सम्पूर्ण राष्ट्र, समाज और धर्म की गंभीर जवाबदारी है।

भावी प्रजा में स्वदेश के प्रति श्रद्धाभाव उत्पन्न करने वाली शिक्षाप्रणाली ही ग्राह्य होनी चाहिए। देश-देशान्तरो का इतिहास

जो रटाया जाय पर अपने देश का और अपने गाँव का ठीक पता ही न हो, यह शिक्षाप्रणाली का दूषण है। सच्ची शिक्षा वही है जिससे राष्ट्रीय हित का साधन हो। शिक्षा के ऊपर ही राष्ट्र का उत्कर्ष निर्भर है। जिस शिक्षा से राष्ट्रीय हित में कोई सहायता नहीं मिलती वह भी कोई शिक्षा है!

आज भारतवर्ष की शिक्षाप्रणाली ऐसी दोषपूर्ण है कि वह राष्ट्रीय भावना का विनाश कर देती है। शिक्षण-संस्थाओं के अधिकारियों की इच्छा भी यही रहती है कि देश की भावी प्रजा विदेशी जीवन व्यतीत करे और उसमें राष्ट्रीयभावना पनपने न पावे। अपनी इस अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए वे ऐसी शिक्षा-प्रणाली की योजना करते हैं जो राष्ट्रीयता का पोषण न करे वरन् परदेश के प्रति गौरव का भाव ही विद्यार्थियों के हृदय में उत्पन्न करे। सचमुच राष्ट्र के लिए यह दुर्भाग्य की बात है। जो लोग भविष्य में देश के भाग्यविधाता बनने वाले हैं, उन्हें राष्ट्रीयता की भावना से कोरा रखना देश के प्रति कितना बड़ा अन्याय है? ऐसी शिक्षा असल में शिक्षा ही नहीं है। यह तो भावी प्रजा को गुलामी की बेड़ी में जकड़ने का फंदा है। इस फंदे को काट फेंकना महात्माओं का काम है। जो विदेशी जिस देश को अपने पैरों तले दबाये रखना चाहते हैं वे भला प्रजा को राष्ट्रीयता की शिक्षा क्यों देने लगे! वे लोग जिस ध्येय से भारत में आये हैं, उसकी पूर्ति के लिए गुलाम बनाने वाली शिक्षा पद्धति जारी करें यह स्वाभाविक है। पर महात्माओं को सावधान होना चाहिए।

एक जमाना था जब समग्र भारतवर्ष में अपनी प्रजा को राष्ट्रीय शिक्षा दी जाती थी। इसी कारण राष्ट्र का मस्तक ऊँचा रहता था। जनता भी सुखशान्ति में रहती थी।

[श्रोता–पहले के व्यापारियों के पास इतनी धनसम्पत्ति नहीं थी, जितनी आजकल के व्यापारियों के पास है। मारवाड प्रान्त में हजारों लखपति रहते हैं। यहाँ मजदूर भी सोने के गहने पह–नते हैं। पहले लोग अपने ही गाँव में रहते और नमक-मिर्च बेच कर किसी कदर गुजर चलाते थे। आज अंग्रेजी शिक्षा के प्रताप से लोग बम्बई, कलकत्ता, मद्रास जैसे विशाल नगरों में पहुँच कर बड़ा व्यापार करते हैं। क्या यह अंग्रेजी शिक्षा का प्रताप नहीं है ?]

इस प्रश्न के उत्तर में मैं पूछना चाहता हूँ कि मारवाड़ के बड़े-बड़े व्यापारियों ने बम्बई, कलकत्ता आदि शहरों में जाकर जो धन-सम्पत्ति पाई है वह सब भारत की है या विदेश की ?

'है तो भारत ही की।'

तो इसका अर्थ यह हुआ कि जो लोहू समस्त शरीर में चक्कर लगा रहा था, वह एक जगह स्थिर होकर जम गया है। अर्थात् एक पैर तो खम्भे के समान मोटा हुआ और दूसरा बेंत की पतली छड़ी के समान पतला। अगर किसी के शरीर की ऐसी दशा हो जाय तो क्या वह स्वस्थ और सुन्दर कहलाएगा ? नहीं। जब शरीर के किसी एक अंग का लाहू दूसरे अंग में चला जाता है और वह दूसरा अंग रक्तहीन हो जाता है, तब वह शरीर का

विकास नहीं वरन् विकार गिना जाता है। इस विकार का परिणाम है शरीर की सबलता नष्ट हो जाना और निर्बलता पैदा हो जाना।

यही बात धन के संबन्ध में है। गरीबों की रोटी छीनकर जो धन एकत्र किया जाता है उससे समाज और देश में अस्वस्थता एवं निर्बलता उत्पन्न होती है। ऐसे समाज या राष्ट्र में नीति-अनीति के विकार आ घुसते हैं। अतः ऐसे धन के संचय से क्या लाभ हुआ? धन बढ़ने के साथ दूसरों के कल्याण की भावना बढ़े तब तो धन का बढ़ना कहा जा सकता है। जहाँ रुपया-पैसा बढ़ता है पर जनकल्याण की भावना नहीं बढ़ती वहाँ धन की वृद्धि या हानि दोनों बराबर है।

आजकल लोग तन, मन लगाकर धन इकट्ठा करने का उद्योग करते हैं। धनवान् हो जाते हैं तो फूले नहीं समाते। पर जब तन और मन अत्यन्त निर्बल हो जाते हैं तब यदि कोई गरीब, मामूली मनुष्य उनके सामने लट्ठ तानकर खड़ा हो जाता है तो निस्तेज बने वाले पकड़ जाते हैं और दूसरे से अपनी रक्षा कराते हैं। यह दयनीय दशा भी क्या सुखावह है?

धनवान् लोग धन के बल से अपनी रक्षा की आशा करते हैं। पर वास्तव में तन और मन को सबल बनाये बिना धन से रक्षा नहीं हो सकती। तन और मन को सबल बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। अपनी पौवार्त्य शिक्षण-संस्कृति तन मन को सबल-[illegible]न की सर्वप्रथम आवश्यकता अनुभव

करती है। जब कि आज की पाश्चात्य शिक्षण-संस्कृति तन-मन को बेचकर भी धन कमाने का शिक्षण देती है। अगर तन-मन सबल और स्वस्थ होगा तो धन दौड़ता चला आएगा। इसके विपरीत अगर तन और मन अस्वस्थ एवं निर्बल हुए तो मुट्ठी का धन भी तो नहीं टिक सकता। और अगर टिके भी तो उनका कोई उपयोग नहीं हो सकता। जिस राष्ट्र में तन-मन को स्वस्थ और सबल बनाने की शिक्षा-दीक्षा नहीं दी जाती और केवल धनार्जन के लिए तन-मन को निछावर करना सिखाया जाता है, उस देश का उत्थान नहीं पतन होता है। भारतवर्ष को गुलाम बनाने की यह चाबी मैकाले जैसे शासनकारों ने अपने हाथ में ली और भारत के सपूतों को गुलामी की शिक्षा देकर चिरकाल के लिए गुलाम बना डाला। भारत के कोने-कोने में, आज बेकारी का जो भूत भारतीयों को भयभीत करके त्रास पहुंचा रहा है, उसका मुख्य कारण आज की दोषपूर्ण शिक्षाप्रणाली ही है। आज भारत का जीवनधन-युवकहृदय पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली के फेर में पड़कर नेस्तनाबूद हो गया है। आज का नौजवान, जिसमें गर्म खून, असीम उत्साह और स्फूर्ति होनी चाहिए, निर्बल, निस्तेज, साहसहीन, अकर्मण्य, हतोत्साह और निराश नजर आता है। इसका कारण आज की दूषित प्रणाली के अतिरिक्त और क्या है? आधुनिक शिक्षाप्रणाली में मानसिक शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा को तनिक भी स्थान नहीं है। जब कि प्राचीनकाल में, भारत में शारीरिक, मानसिक, औद्योगिक, संगीत, वाद्य आदि बहत्तर

कलाओं की शिक्षा दी जाती थी और इन कलाओं में कुशल मनुष्य ही शिक्षित माना जाता था। जिसने बहत्तर कलाएँ सीखी होंगी वह क्या पेट भरने के लिए दूसरों का मुँह ताकेगा ? क्या वह नौकरी के लिए दर-दर भटकता फिरेगा ? बहत्तर कलाओं का पंडित स्वयं अपना व्यवसाय करता है। कलाशिक्षण से उसका दिल दिमाग ही ऐसा बन जाता है कि वह किसी की नौकरी या गुलामी नहीं कर सकता। कलाविद् का मानस सदा स्वाधीन होता है। वह किसी का पराधीन होकर नहीं जी सकता। आज का ऐम० ए० (M. A.) भले ही समस्त कलाओं का अधिपति (Master of arts) गिना जाता हो पर वास्तव में वह एक भी कला का पूर्ण पंडित नहीं होता। हाँ वह कला की विवेचना करने में एक बड़ा सा पोथा रच सकता है पर उसके जीवन में 'कला' का स्पर्श तक नहीं होने पाता। यही कारण है कि वह कलाओं का मास्टर पचास साठ रुपया मासिक की कमाई के लिए दर-दर भटकता है। सच तो यह है कि आजकल कला की शिक्षा दी ही नहीं जाती केवल गुलामी की शिक्षा दी जाती है। 'गुलामी-शिक्षा' के बदले कला की शिक्षा का प्रबन्ध करना प्रशास्ता स्थविर का मानसिक और आवश्यक कर्त्तव्य है। म० गांधी के दिग्दर्शन में हमारे यहाँ राष्ट्रीय विद्यापीठों की जो व्यवस्था की गई थी वह शिक्षा के क्षेत्र में एक बहुमूल्य कदम था। यद्यपि उसमें भी कई-एक सुधारों को अवकाश था। खेद है कि अब उस ओर उतना अधिक ध्यान नहीं दिया जा रहा है। स्वतन्त्र भारत शिक्षापद्धति में आमूल सुधार करेगा।

यह कौन नहीं जानता कि आज की बाला ही कल देश की भाग्यविधात्री होगी ? पर साथ ही यह जानने की जरूरत है कि उसे ...त बनाकर भाग्यविधात्री बनाने में ही मानवजाति का कल्याण है।

स्त्रीशिक्षा के संबंध में थोड़ा कहा जा चुका है। यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि मनुष्य समाज के भाग्यचक्र की धुरी स्त्री जाति है। उसे शिक्षित बनाने में थोड़ी-सी भी उपेक्षा क्षम्य नहीं होनी चाहिए। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' अर्थात् जहाँ स्त्रीजाति की पूजा होती है वहाँ देवता रमते हैं, इस ऋषिवचन में स्त्रीजाति को सन्मान देने की जो उदात्त भावना विद्यमान है उसे मूर्त रूप देना प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी का पवित्र कर्त्तव्य है।

स्त्री और पुरुष दोनों जीवन-रथ के चक्र हैं। इन दोनों चक्रों में से अगर एक चक्र असमान, टूटा-फूटा हुआ तो जीवनरथ आगे नहीं बढ़ सकता। आज हमारे जीवन-व्यवहार में अनेक प्रकार के जो विसंवाद दिखाई पड़ते हैं, उनका एक महत्वपूर्ण कारण जीवनरथ के चक्रों की असमानता भी है।

जैसे पुरुष जाति को शिक्षा-दीक्षा देने की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है, उसी प्रकार स्त्री जाति के लिए भी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

आज की बालिका भविष्य की माता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि राष्ट्रोद्धार में माता का स्थान कितना महत्वपूर्ण

है। भविष्य में जो भारत के पद को गौरवान्वित करेगी, आज की उस बालिका को कैसी शिक्षा मिलनी चाहिए यह विचार करना महात्मा का काम है। बालिकाओं को सिलाई, गुंथाई, भोजननिर्माण, व्यावहारिकज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता है पर पाकविद्या, बालसंगोपन आदि का समुचित ज्ञान देने की उससे भी अधिक आवश्यकता है। स्त्री जाति में सहिष्णुता कोमलता और सेवापरायणता का गुण प्राकृतिक है। महात्मा को चाहिए कि वह ऐसी योजना करे जिससे उनके प्राकृतिक गुणों का विकास हो और उनका मानवजाति की भलाई में उपयोग हो।

स्त्री शक्ति एक भयंकर शक्ति है। इस भयंकर शक्ति के सदुपयोग से विश्व का कल्याण साधा जा सकता है। नारी-जागरण के बिना राष्ट्रोद्धार की कल्पना भी मूर्त रूप धारण नहीं कर सकती। जो महाशक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र का उद्धार कर सकती है उसे दबाये रखने से उद्धार के बदले कितना अधःपतन होता है यह बात आज के स्त्रीजीवन पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगी। आज का स्त्रीजीवन पुरुषों के लोखंडी पंजे के नीचे पामर बन गया है। आज स्त्रीजीवन मानों पुरुषों की वासना तृप्त करने का ही एक जीवित पुतला सा बन रहा है। सामाजिक रूढ़ियों के अंधकार में उस जीवन का तेज विलीन हो गया है। वास्तव में स्त्री में भी पुरुष के समान बुद्धि, शक्ति और तेजस्विता है। भारतीय साहित्य में स्त्रीजाति के त्याग और उसकी अनुपम सेवा के अनेक आदर्श दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। स्त्रीजाति की उपेक्षा

करके अब तक कोई भी राष्ट्र समुन्नत नहीं बन सका है और नहीं बन सकता है। स्त्रीजाति के सहयोगसे ही पुरुष जाति स्वपर का कल्याण कर सकती है। अतएव स्त्रीजाति की शक्ति विकसित करने के साधन प्रस्तुत करना, इस सबन्ध में जनता का पथ प्रदर्शित करना और स्त्रीशक्ति का राष्ट्रोद्धार के महान् कार्य में उपभोग करना प्रशास्तास्थविर का कर्त्तव्य है।

आज स्त्रीजाति की हीनावस्था पर दृष्टिपात करने से प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी को दुःख हुए विना न रहेगा। अगर इस हीनावस्था के कारणों की जॉच की जाय तो मालूम होगा कि स्त्रीजाति को समुचित शिक्षा न देना ही इस हीनावस्था का प्रधान कारण है।

भले ही थोड़े शहरों में, बालिकाओं की शिक्षा का थोड़ा-बहुत प्रबंध हो, परन्तु ग्रामों में, जहाँ नारीजाति का जीवन सेवा पर अवलंबित है, जरा भी व्यवस्था नहीं होती। इस कारण वे एक गाँव से दूसरे गाँव तक अकेली नहीं जा सकतीं और छोटे-से छोटे कार्य में भी उन्हें पुरुष की अपेक्षा रहती है। वह दूसरे का मुँह ताकती बैठी रहती हैं। इस परनिर्भरता का अन्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि उन्हें व्यावहारिक शिक्षा दी जाय।

जहाँ कहीं नगरों में कन्याओं को शिक्षा दी जाती है वह प्राय जीवनविकास की नहीं वरन् जीवनविकार की शिक्षा होती है। आज स्त्रीशिक्षा मे विलासिता ऐसी आ घुसी है कि उसने शिक्षा का हेतु ही नष्ट कर दिया है। अकसर इस शिक्षा से शिक्षित कन्या सेवा और संयम की मूर्त्ति बनने के बदले विलासिता की

गूर्ति बन जाती है। ध, स्त्रीशिक्षा की प्रणाली का हो। प्राचीन काल में स्त्रीशिक्षा का अभाव था, यह बात नहीं। समय स्त्रियाँ स्त्रीशिक्षा प्राप्त कर, पतिव्रत बनकर सुन्दर व्यवहार चलाती थी और आदर्श दाम्पत्य-जीवन का रूप सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करती थी। इतना ही बड़े-बड़े पंडितों के शास्त्रार्थ में निर्णायिका बनने का गौरव भी प्राप्त होता था। कहते हैं, मण्डन मिश्र और शंकराचार्य विगम्ब विद्वानों के शास्त्रार्थ में मंडनमिश्र की पत्नी निर्णायिका बनी थी। कई दिनों के शास्त्रार्थ के पश्चात् मारती ने निर्णय दिया था- शंकराचार्य जीते और पतिदेव पराजित हुए। इस उदाहरण से उस समय की स्त्रियों की प्रामाणिकता और विद्वत्ता पर भी प्रकाश पड़े बिना नहीं रहता।

आज अगर कोई स्त्री साधारण पढ़ना-लिखना सीख लेती है तो क्या पूछना बात! उसके खान-पान में रहन-सहन और स्वभाव में एकदम परिवर्तन हो जाता है। वह अपने आप को पढ़ी-लिखी साबित करने के लिए विदेशी महिलाओं की अति विलासिता और फैशन में डूब जाती है। अन्ध-अनुकरण की वृत्ति शिक्षा का दुरुपयोग है।

दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए स्त्रियों को सद्भाव, सादगी अथवा संस्कारिता आदि सद्गुण अपनाने [illegible] [illegible] शिक्षा [illegible] [illegible] संस्कार और [illegible]

क्षण द्वारा स्त्रीजीवन को सुखमय बनाने की सलाह देती है। आज पाश्चात्य शिक्षा ने अपनी प्राचीन संस्कृति का आदर्श विनष्ट कर दिया है। आज वह शिक्षा दी जा रही है जिससे स्त्रीधर्म के अभ्युदय के बदले स्त्रीधर्म के आदर्श का अधःपतन हो रहा है।

प्रचलित शिक्षाप्रणाली में परिवर्त्तन करके जब तक राष्ट्रीय पद्धति द्वारा प्रजा को शिक्षित-दीक्षित न किया जायगा तब तक राष्ट्र के कल्याण की क्या आशा की जा सकती है ? मगर यह तब हो सकता है जब राष्ट्र का शिक्षाविभाग प्रशास्ता स्थविर के हाथों में सौंप दिया जाय और उसी की सूचनाओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जाय। शिक्षाविभाग जब राष्ट्र के सूत्रधारों के हाथ में आएगा तभी हमारी अगली पीढ़ी राष्ट्रीय शिक्षा का महत्व और प्रचलित शिक्षापद्धति की बुराइयां समझ सकेगी। तब प्रशास्त स्थविरों की प्रेरणा से भावी प्रजा राष्ट्रोद्धार के कार्य में जुटेगी और राष्ट्र का मुख उज्ज्वल होगा।

५

कुल–स्थविर

[कुल–थेरा]

भारतवर्ष विशाल देश है। इसी कारण सदा से यहाँ विभाजित शासनप्रणाली चली आई है। एक ही शासक सब कार्यों को भली-भाँति सम्पन्न नहीं कर सकता इस दृष्टि से शास्त्र में कुलधर्म की और उसकी व्यवस्था करने वाले कुलस्थविर की व्याख्या की गई है।

कुलस्थविर दो प्रकार के होते हैं—(१) लौकिक कुलस्थविर (२) लोकोत्तर कुलस्थविर। कुलधर्म की समुचित व्यवस्था करने वाला अर्थात् किन कार्यों से कुल की उन्नति और किन से अवनति होगी इस बात का विचार करके विधि निषेध करने वाला कुलस्थविर कहलाता है। सच्चा कुलस्थविर कुलधर्म की रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर देता है, मगर कुल को कलंक नहीं लगने देता। कुलस्थविर अपने कुल को प्रकाशित करने वाला सच्चा कुलदीपक होता है।

दीपक खुद जलता है पर दूसरों को न जलाकर प्रकाशित

करता है, इसी प्रकार जो स्वयं कष्ट सहता है पर कुल के किसी मनुष्य को कष्ट न पहुँचने देकर अपने जीवन-प्रकाश से सम्पूर्ण कुल को प्रकाशित करता है, वह वास्तव में कुलदीपक कहलाता है। कुलदीपक बनना सरल नहीं है। कुलदीपक बनने के लिए अपने आपको तपाना होता है—जलाना पड़ता है और सारे कुल को उज्ज्वल करने के लिए आत्मज्ञान का प्रकाश प्रकट करना पड़ता है। जो व्यक्ति केवल बड़प्पन पाने के लिए कुल-स्थविर का विरुद धारण करता है, कुलोद्धार के लिए कोई काम नहीं करता वह कुलदीपक नहीं वरन् कुलांगार है। कुलांगार कुल को खाक कर डालता है, जब कि कुलदीपक कुल में उजाला करता है। सच्चा कुलदीपक ही कुल-स्थविर बन सकता है।

कुलस्थविर का मुख्य कर्त्तव्य है—सारे कुल में कुटुम्बभावना का बीजारोपण करना। जिस कुल में कुटुम्बभावना नहीं होती वह दीर्घजीवी नहीं होता। कुटुम्बभावना कुलोद्धार का मूल है। कुल में कुटुम्बभावना लाने के लिए कुलस्थविर को कुल के प्रत्येक सदस्य का सार-सँभाल करनी पड़ती है। प्राचीन काल में, ओसवालों में कुलस्थविर पंच कहलाता था। ओसवालों को किस प्रकार रहना चाहिए, कैसा व्यवहार करना चाहिए और कुलधर्म की रक्षा के लिए किन-किन उपायों की योजना करनी चाहिए, आदि बातें वही पंच या कुलस्थविर तय करते थे। जिन्होंने यह कुलव्यवस्था भंग की है उन्हें उसका दुष्परिणाम भी भोगना पड़ा है। कुलस्थविर की मौजूदगी में, कुल के सिद्धान्तों से विरुद्ध मास

मद्यसेवन और गर्भिगपान आदि दुर्व्यसनों का सेवन करना का तथा कुल की मर्यादा [illegible] करना बालविवाह, वृद्धविवाह, अनमेल विवाह आदि अनुचित [illegible] करने का रिवाज तो मालूम नहीं होता था। अगर कोई कुल-मर्यादा [illegible] करता था तो उसे समुचित दंड दिया जाता था और उससे पूरी [illegible] अमल किया जाता था। कुलस्थविर इस बात का पूरा ध्यान रखते थे कि कुल मर्यादा का संरक्षण हो कुल की उत्तम नीतियों का बराबर पालन हो। कुलस्थविर पद [illegible] गुरुतर भार उठाना साधारण पुरुष के लिए सरल नहीं है। जिसने कुल की प्रतिष्ठा कायम रखने के योग्य अपना व्यक्तित्व बना लिया है वही व्यक्ति कुलस्थविर बन सकता है। वही कुलधर्म को दिपा सकता है।

पहले की तरह कुलस्थविर की व्यवस्था न होने से आज कन्याविक्रय वरविक्रय बालविवाह वृद्धविवाह और अनमेल-विवाह आदि अनाचार हो रहे हैं। इतना ही नहीं वरन इन कुलनाशक विवाहों में बहुत-सा अनावश्यक खर्च किया जाता है। आज समाज की जो अधोदशा दिखाई देती है, उसका मूल कारण खोजा जाएगा तो मालूम होगा कि योग्य कुलस्थविर न होने से ही यह समाज निर्बल अपना अस्तित्व खो रहे हैं और इसके साथ ही अनेक सवाल बुराइयां पैदा होती जा रही हैं जिनके कारण कुलधर्म रसातल में पहुंचता जाता है।

कुलस्थविर के अभाव में प्रत्येक कुल में बहुत खर्च बेहुदे व्यवहार और दिखावा बढ़ता जाता है। किसी समय दो-तीन

सौ रुपये में विवाह का खर्च बाखूबी चल जाता था, प्राज कुल-धर्म की अव्यवस्था के कारण दो-तीन हजार खर्च करने पर भी कार्य नहीं चलता। कुल में निरर्थक खर्च बढ जाने से समाज की बेकारी बढ गई है। समाज का अधिकांश भाग गरीब है। वह विवाह का भारी खर्च बर्दाश्त नहीं कर सकता। नतीजा यह होता है कि उसे अविवाहित ही रहना पड़ता है। लाचारी से स्वीकार किया जाने वाला अविवाहित जीवन प्राय भ्रष्ट हो जाता है और समाज में पापाचार का कुफल समाज और कुल को भोगना पड़ता है।

कुल की व्यवस्था अगर ठीक हो तो कुल में बालविवाह आदि बुराइयाँ कैसे घुस सकती हैं? कुल को उज्ज्वल बनाने वाला कुलस्थविर हो तो हजारों पर पानी फेर कर विलासिता का बीजारोपण करने वाले और सदाचार के शत्रु वेश्यानृत्य आदि घृणित रीति-रिवाज कैसे चालू रह सकते हैं? जहा भावी प्रजा में इस प्रकार कुसंस्कारों का सिंचन किया जाता है वहाँ कुलोद्धार की क्या आशा की जा सकती है? भावीप्रजा में सत्संस्कार डालना कुलस्थविर का काम है।

सम्पूर्ण कुल की व्यवस्था करना और कुल को उन्नत बनाने वाले रीतिरिवाजों को प्रचलित करना कुलस्थविर का उत्तरदायित्व है। कुलस्थविर को इस बात की भी सावधानी रखनी पड़ती है कि कुल का खानपान, रीतिनीति, और आचारविचार शुद्ध रहे। आजकल कुलधर्म का ठीक-ठीक पालन न करने के कारण

सम्पत्ति का अत्यन्त ह्रास होता है। पर सच्चे कुलस्थविर के अभाव यह समझावे कौन? कुलस्थविर न होने से जहाँ-तहाँ कुल की मर्यादाएँ भंग हो रही हैं खोटे रिवाज घर रहे हैं, फिजूल खर्ची बढ़ती जाती है। कुल की ठीक व्यवस्था न होने से समाज टुकड़े-टुकड़े में बँटता जाता है और सामाजिक जीवन दु खमय बनता जाता है। कुलधर्म की छीछालेदर हो रही है।

लौकिक कुल का उद्धार करने के लिए लौकिक कुलस्थविर की आवश्यकता है, इसी प्रकार लोकोत्तर कुलस्थविर की भी आवश्यकता रहती है। साधुसमाज लोकोत्तर कुल है। साधु-समाजके नियम-पालनकी सारी जिम्मेवारी गुरु पर रहती है अत-एव गुरु लोकोत्तर कुलस्थविर है। शिष्यवर्ग को आचारधर्म का शिक्षण देना, उनकी उचित आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए साधन जुटाना, यह गुरु का कर्त्तव्य है। शिष्यों को विशिष्ट शिक्षा देकर विद्वान् बनाना भी गुरु का ही कर्त्तव्य गिना गया है। अगर कोई गुरु अपने दस-बीस शिष्यों को ही शिक्षा देता है और शेष शिष्यों को शिक्षा नहीं देता तो वह गुरु कुलस्थविर नहीं कहला सकता। जो कुलस्थविर बालकों को बालक के योग्य और वृद्धों को वृद्धों के योग्य शिक्षा देता है और उनकी योग्यतानुसार सार-सँभाल रखता है, उस कुलस्थविर का कुल सदा पवित्र रहता है।

जैसे लौकिक कुलस्थविर कुलधर्म के पालन करने-कराने की सम्पूर्ण व्यवस्था करता है, वैसे ही जो गुरु अपने कुल के सब

साधुओं को कुलधर्म के पालन में दृढ़ बनाता है वह लोकोत्तर कुलस्थविर है। लोकोत्तर कुलस्थविर के बताये नियमों का भंग करने वाले के लिए दंडविधान की भी व्यवस्था है। उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। इनमें दसवाँ प्रायश्चित्त अंतिम दंड है। यह दंड उसे दिया जाता है जो कुल में रहता हुआ कुल का नाश करता है, संघ में रहता हुआ संघ को मटियामेट करता है अथवा गण में रहकर गण का नाश करता है।

साधु अगर महाव्रतों का समूल भंग करे तो उस के लिए बड़ी से बड़ी सजा नवीन दीक्षा देना है। पर गण में भेद करने वाले के लिए दसवाँ प्रायश्चित्त है। इसका प्रधान कारण यह कि व्यक्तिगत अपराध करने वाला साधु अकेला आप ही पतित होता है मगर कुल संघ या गण में भेद डालने वाला सारे कुल या गणको हानि पहुँचाता है। अतएव यह ध्यान रखना चाहिए कि भूलचूक से भी कुल को छिन्न भिन्न करने वाला साधु कुलधर्म का उल्लंघन करता है और सम्पूर्ण कुल का अपराधी बनता है।

कुल में कुलीनता प्रकट करना और कुल को व्यवस्थित बनाना कुलस्थविर का धर्म है। कुलदीपक बनने के लिए कुलस्थविर को आत्मभोग देकर अपने ज्ञान के प्रकाश से दूसरों को आलोकित करना चाहिए। ऐसे व्यक्तित्व से विभूषित पुरुष ही कुलस्थविर के विरुद के योग्य होता है।

६

गणस्थविर-गणनायक

[ग ण-थे ग]

मानवकुल अनेक छोटे-मोटे कुटुम्बों में बंटा हुआ है। इन सब कुटुम्बों में परस्पर प्रेमसंबन्ध तथा योग्य व्यवस्था कायम करने के लिए सब कुटुम्बों का एक केन्द्रीय मंडल स्थापित किया जाता है। वह मंडल 'गण' कहलाता है। उसे 'कुटुम्बसमूह' भी कह सकते हैं। गण का मुख्य काम कुलों की मर्यादा की रक्षा करना और उन्हें संगठित कर एक विशाल शक्ति का निर्माण करना होता है। 'गण' में विभिन्न कुलों की विभक्त शक्ति संयुक्त हो जाती है। जो व्यक्ति इस गणतंत्र का नियंत्रण और संचालन करता है, वह 'गणस्थविर या गणनायक' कहलाता है।

प्राचीन काल में गणतन्त्र की प्रणाली अच्छी खासी प्रचलित थी। भगवान् महावीर के समय अठारह गणराज्य थे और वह सब आपस में संगठित होकर रहते थे। इन अठारह गणराज्यों का स्थविर-गणनायक-राजा चेटक था।

जैनशास्त्रों में चेटक का जो परिचय मिलता, उससे स्पष्ट

आभास मिलता है कि गणस्थविर कैसा होना चाहिए और उसका कर्त्तव्य क्या है ?

मगध देश के उत्तर में जो आजकल बिहार प्रान्त कहलाता है, वैशाली नामक प्रसिद्ध नगरी थी। यह नगरी गणराज्य के ही अन्तर्गत थी। इस गणराज्य का अधिनायक चेटक था। उस समय वैशाली गणराज्य के समान और भी अनेक गणराज्य थे, जिनमें कुसीनारा पावा, कुण्डपुर आदि प्रधान थे। यह सब गणराज्य गणतंत्र या प्रजातंत्र (Republic) राज्य थे। उस समय इन गणराज्यों का नियंत्रण और संचालन चेटक के हाथ में था।

इन गणतंत्रों का संचालन आधुनिक प्रजातंत्र राज्यों की भाँति होता था। इन सब गणराज्यों में क्षत्रिय कुल के मुखियों की सभा (कौंसिल) मुख्य काम करती थी। इस गणतंत्र में जो-जो जातियाँ सम्मिलित थीं, वे अपनी ओर से एक प्रतिनिधि चुन कर कौंसिल में भेजती थीं।

गणतंत्र की सभा की व्यवस्था बहुत सुन्दर थी। इस सभा में एक आसनप्रज्ञापक नियुक्त होता था जिसका काम था आये हुए सदस्यों को उनका स्थान बतलाना। सदस्यों की उपस्थिति पर्याप्त होने पर—कोरम पूरा होने पर—ही कोई भी प्रस्ताव सभा के समक्ष उपस्थित किया जाता था। यह क्रिया 'ञत्ति' (ज्ञप्ति) कहलाती थी। विज्ञप्ति होने के अनन्तर प्रस्तुत प्रस्ताव पर विचार-विनिमय किया जाता था। तदनन्तर उसे स्वीकृत करने या अस्वीकृत करने के संबंध में प्रत्येक सदस्य से तीन

बार पूछा जाता था। सभी सदस्य सहमत होते तो प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाता था। मतभेद होने की हालत में मतगणना की जाती थी। गणतंत्र की इस सभा में नियमोपनियम भी बनाये जाते थे और उनका बराबर पालन किया जाता था।

गणतंत्र की सभा बहुमति से काम करती थी। सभा जिस प्रस्ताव को स्वीकृत कर लेती उसे कार्यरूप में परिणत करने वाला गणनायक (Chief Magistrate) कहलाता था। गणनायक को सहायता देने के लिए उपराजा, भंडारी, सेनापति आदि भी नियत किये जाते थे। गणतंत्र का न्यायालय आदर्श ढंग का था, जहाँ सस्ता, सच्चा और शीघ्र न्याय किया जाता था। गणतंत्र के सदस्यों की जहाँ सभा होती थी वह स्थान (Town hall) कहलाता था।

गणनायक चेटक गणराज्यों की सुव्यवस्था करने में कुशल था। सभी गणराज्यों के अधिनायक उसका नेतृत्व स्वीकार करते और उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे। चेटक स्वयं आढ्य, दीप्त और अपराभूत था। वह न किसी से दबता था, न किसी से प्रभावित होता था। उसकी अप्रतिम प्रतिभा के सभी कायल थे। उसके आगे सब को झुकना पड़ता था। प्रजा को सुखी बनाने के लिए वह कोई शक्य प्रयत्न बाकी नहीं रखता। अन्याय का वह प्रचण्ड विरोध करता था और न्याय के सामने सदा नम्र रहता था। इन्हीं सब गुणों के कारण दूसरे गणराज्यों के अधिनायक उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे।

एक बार महाराज चेटक को, गणनायक की हैसियत से एक अत्यन्त अप्रिय कार्य का सामना करना पड़ा था। उसे मगध के सम्राट् के साथ युद्ध करना अनिवार्य हो गया था। बात यह थी कि महाराज चेटक के भानेज मगधसम्राट् कोणिक ने अपने छोटे भाई विहल्लकुमार के हिस्से में आया हार और हाथी छीनने के लिए उसके साथ अन्याय किया। विहल्लकुमार घबरा कर चेटक की शरण आया। चेटक ने विहल्लकुमार की बात शान्तिपूर्वक सुनी और कहा—कोणिक अन्याय के मार्ग पर है। हार-हाथी पर उसका किंचित् भी अधिकार नहीं है!

मगधाधिपति कोणिक और विहल्लकुमार—दोनों राजा चेटक के भानेज थे। एक न्याय-पथ पर था, दूसरा अनीति की राह पर। अन्याय का प्रतीकार करना और न्याय का संरक्षण करना गणतंत्र का उद्देश्य है। आज गणतंत्र के उद्देश्य की रक्षा का प्रसंग उपस्थित था। चेटक ने सब गणराज्यों के अधिनायकों को एकत्र किया और गणधर्म के सामने उपस्थित कर्त्तव्य को स्पष्ट करने के लिए समझाया। सभी गणराज्यों के अधिनायकों ने सब कुछ होम कर भी अन्याय का प्रतीकार और शरणागत के प्रति न्याय करने का निश्चय किया

गणनायक चेटक के आगे आज दोहरा कर्त्तव्य था। एक ओर गणधर्म की रक्षा और दूसरी तरफ अनेकों की रक्षा। मगधपति कोणिक भी भानेज था और विहल्लकुमार भी भानेज था। पर चेटक ने अन्याय के लिए तत्पर कोणिक का पक्ष न लिया। यद्यपि

वह प्रचंड शक्ति का धनी था। उसने निःसहाय विहल्लकुमार का पक्ष लिया, जिसमें बड़ा खतरा और बड़ी मुसीबतें थीं। मगर वह वीर ही कैसा जो खतरे से डरता है और मुसीबतों से डरकर भाग खड़ा होता है? यह घटना स्पष्ट बतलाती है कि चेटक कितना निष्पक्ष और न्यायप्रिय था।

गणनायक चेटक ने दो-तीन बार कोणिक को आपस में समझौता करने का संदेश भेजा, पर सत्ता के उन्माद में भ्रात-प्रेम को भूल जाने वाले मगधपति कोणिक ने गणनायक चेटक की शांतियोजना को दुर-दुरा दिया और युद्ध के लिए तैयारी करने का संदेश भेज दिया। अन्त में भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध का परिणाम भले ही कोणिक के पक्ष में रहा, मगर गणतंत्र ने अपने उद्देश्य के संरक्षण के लिए जूझकर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा की। चेटक ने भी गणनायक का कर्त्तव्य पालन किया।

उल्लिखित उदाहरण से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि गणतंत्र कैसा होना चाहिए? उसका क्या कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है?

गणनायक को गणतंत्र की व्यवस्था के लिए और उसकी प्रतिष्ठा बढाने के लिए समय और शक्ति का भोग चढा देना पड़ता है।

गणनायक को अपने साथी गणराज्यों के अधिनायकों का हृदय जीतने के लिए प्रेमभाव सीखना पड़ता है और व्यक्तित्व प्रकट करना पड़ता है।

गणनायकों को अन्याय का प्रतीकार और न्याय का प्रचलन

करने के लिए सदा सक्रिय प्रयत्न करना पड़ता है।

गणनायक को गणधर्म की रक्षा के लिए प्राणों का भी उत्सर्ग करने योग्य आत्मबल प्राप्त करना पड़ता है।

गणनायक को गणधर्म की प्रतिष्ठा के सामने स्वजन का भी मोह त्यागना पड़ता है।

गणनायक को गणतंत्र की शरण में आये हुए किसी भी आश्रित की तन, मन और धन से रक्षा करनी पड़ती है।

गणनायक को सब प्रकार के पक्षपात का त्यागकर निष्पक्ष और न्यायप्रिय होकर रहना पड़ता है।

गणनायक को प्रजा के सुख-दुःख की रात-दिन चिन्ता करनी पड़ती है।

हम यह देख चुके हैं कि गणधर्म की प्रतिष्ठा के लिए गणनायक को कितना आत्मत्याग करना पड़ता है। पर इसके अतिरिक्त गणधर्म को अधिक व्यवस्थित और व्यवहार्य बनाने के लिए कई बार उसमें योग्य परिवर्तन भी गणनायक को करना पड़ता है। 'गण' के नियमों में परिवर्तन और परिवर्धन करने से बहुत बार गणतन्त्र के सदस्य अप्रसन्न भी हो जाते हैं। पर सच्चा गणनायक किसी की प्रसन्नता देखकर झुकता नहीं और किसी की अप्रसन्नता से घबराता भी नहीं है। गणनायक की चिन्ता का मुख्य विषय होता है—गणधर्म का व्यवस्थित संचालन और निर्वाह। प्रजा के सुख चैन की चिंता गणनायक सदा किया करता है। जो गणनायक 'गणतन्त्र' में मधुर-परिवर्तन

करने से अमुक नाराज हो जायगा,' यह सोचकर योग्य परिवर्त्तन करते डरता है, वह 'गणस्थविर' पद को सुशोभित नहीं कर सकता। सच्चा गणनायक वही है, जो देश-काल के अनुसार नियमोप-नियमों में योग्य परिवर्त्तन करके गणतन्त्र को व्यवस्थित बनाता है और ऐसा करके प्रजा की सुखशाँति बढाता है।

लोग गर्मी के मौसिम में बारीक कपडे पहनते हैं और सर्दी के दिनों में मोटे तथा गर्म कपड़े पहनते हैं। ऋतु के अनुसार यह परिवर्त्तन कल्याणकारी माना जाता है। इसी प्रकार गणतन्त्र में भी देश-कालानुसार परिवर्त्तन करना आवश्यक है। जिस कुए से पुराना पानी नहीं निकलता और जिसमें नवीन नहीं आता, उसका पानी सड़ जाता है। वृक्ष अपने पुराने पत्ते फेंक देते हैं और नये धारण करते हैं। वृक्ष में अगर यह परिवर्त्तन न हो तो वह टिक नहीं सकता। जैनशास्त्रों में प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक मानी गई है। साराश यह है कि गणनायक को गणधर्म में योग्य परिवर्त्तन करना चाहिए।

गणनायक अगर समय को पहचानने वाला और विवेकवान् न हुआ तो गणधर्म में किया गया परिवर्त्तन व्यवस्था के बदले अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है। अतएव गणनायक को देश-काल का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। सच्चा गणस्थविर गणतन्त्र की बिखरी शक्ति को एकत्र करके गणधर्म की व्यवस्था में उसका उपयोग करता है। वही गणस्थविर पद को विभूषित करता है।

७

संघ-स्थविर

[संघ-थेरा]

जैन-शासन में संघ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संघ अर्थात् जैनशासन। साधु साध्वी श्रावक, श्राविका यह चतुर्विध संघ है। चतुर्विध संघ की प्रतिष्ठा में धर्म की प्रतिष्ठा है क्योंकि चतुर्विध संघ पर ही धर्म टिका है। जिस संघ को आधार बना कर धर्म टिका है वह संघ ही अगर शिथिल होगा तो धर्म में शिथिलता कैसे न आयगी ? इसीलिए संघ की सुव्यवस्था कायम रखने के उद्देश्य से शास्त्रकारों ने संघस्थविर की आवश्यकता प्रकट की है।

सकल संघ का संचालन करना अर्थात् चतुर्विध संघ की समुचित व्यवस्था करना ही संघस्थविर का प्रधान कर्त्तव्य है।

संघ को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-लौकिक संघ और लोकोत्तर संघ। श्रावक और श्राविका लौकिक संघ में सम्म हैं तथा साधु और साध्वी लोकोत्तर संघ के। लौकिक संघ-स्थविर लौकिक संघ की व्यवस्था करता है और लोकोत्तर संघ-स्थविर लोकोत्तर संघ की

संघ में श्रावक और श्राविका का स्थान समान है। दोनों के पारस्परिक सहकार के बिना कोई भी कार्य व्यवस्थित नहीं हो सकता। लौकिक संघ के इन दोनों महत्त्व के अंगों में से कोई एक अंग अगर लँगडा बन जाय या बना दिया जाय तो लौकिक संघ स्वयं लंगडा बन जायगा। उसकी प्रगति रुक जायगी।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र को जीवन में उतारने के लिए श्रावक और श्राविका दोनों सक्रिय प्रयत्न करें तो लौकिक संघ की उन्नति हुए बिना नहीं रह सकती। लौकिक संघ की व्यवस्था का मुख्य आदर्श लौकिक जीवन को व्यवस्थित और आदर्श बनाना है पर जीवन का आदर्श संघस्थविर के बिना समझावे कौन ?

संघस्थविर अगर संघ के नियमोपनियम के अनुसार संघ की व्यवस्था करे तो संघ उन्नत बनता है। पर संघ की ठीक व्यवस्था करने के लिए स्थविर को अपने निज के जीवन मे ज्ञान, दर्शन और चारित्र को स्थान देकर, अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना पड़ता है। संघस्थविर जब प्रभावशाली और दूरदृष्टा बनता है तब संघ प्रगति के पथ पर अवश्य प्रयाण करता है। आज सच्चे संघस्थविर के अभाव में जैसा चाहिए वैसा संघ का विधान दृष्टिगोचर नही होता। इस कारण संघ-जीवन भी अव्यवस्थित हो गया है। संघस्थविर के अभाव में श्रावक-श्राविका का जीवन क्षीण हो रहा है। इनका यथोचित विकास नहीं हो रहा है। अतएव संघस्थविर को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे

श्रावक-श्राविका के जीवन का विकास हो सके। इसी लक्ष्य को सामने रखकर संघ का विधान तयार करना चाहिए। संघस्थविर के समक्ष एक मात्र संघ के हित का दृष्टिबिन्दु ही होना चाहिए। संघस्थविर को द्रव्य क्षेत्र काल के अनुसार संघ के विधान में परिवर्त्तन करके संघ के नियमों को व्यवहार में लाना चाहिए और संघ के उत्कर्ष के लिए प्राणपन से उद्योग करना चाहिए।

संघ की उन्नति के लिए सुन्दर संगठन की सर्वप्रथम आवश्यकता है। संघ संगठित होगा तो उसका संचालन ठीक-ठीक होगा इस में जरा भी सन्देह नहीं। संघस्थविर अगर समयज्ञ और धमज्ञ न हुआ तो संघ की समुचित व्यवस्था न हो सकेगी और संघ को क्षति पहुंचेगी।

संघस्थविर को भूलना नहीं चाहिए कि उसका उत्तरदायित्व एक सेनापति से भी अधिक है। सेनापति अगर अवसर-कुशल न हो तो सेना उसके काबू में नहीं रहती। इसी प्रकार अगर संघस्थविर समयज्ञ और धर्मज्ञ न हो तो सारा संघ उल्टे रास्ते पर जा सकता है और इससे संघ को भारी धक्का लग सकता है। अतः संघस्थविर प्रभावशाली दूरदर्शी और निष्पक्ष होना चाहिए।

जैसे लौकिक स्थविर का काम लौकिक संघ की व्यवस्था करना है उसी प्रकार लोकोत्तर संघ स्थविर का काम लोकोत्तर संघ की सुव्यवस्था करना है। संघ में किसी प्रकार का असंतोष विग्रह या मनोमालिन्य उत्पन्न न हो इस बात की संघस्थविर को खूब

सावधानी रखनी पड़ती है। अगर कोई संघ में भेद करने की या विग्रह पैदा करने की चेष्टा करता है तो उसे दंड देने का अधिकार स्थविर को है संघ में शांति कायम करने का प्रयत्न करना स्थविर का मुख्य कर्त्तव्य है। जो पुरुष त्याग और सेवाभाव के साथ सकल संघ का संचालन करता है और संघ की उन्नति के लिए दत्तचित्त रहता है, वह अपने संघस्थविर के पद को उज्ज्वल बनाता है।

८

जातिस्थविर—समाजस्थविर

[जा ति-थे रा]

मनुष्य पशु, पक्षी आदि किसी भी जीवधारी का सूक्ष्म अवलोकन कीजिए, स्पष्ट प्रतीत होगा कि प्रत्येक प्राणी अपना सजातीय सहचर खोजता है। इसी सजातीय साहचर्य से समाज की उत्पत्ति होती है। समाज में रहकर ही प्राणी अपना जीवन सुखमय बनाते हैं। चूँकि मनुष्य सब प्राणियों में अधिक विवेकशाली है अतएव मनुष्यसमाज भी अधिक श्रेष्ठ है। पशुओं के समूह को समाज कहते हैं और मनुष्यों का समूह समाज कहलाता है भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से समाज का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

'मनुष्यजातिरेकैव' इस कथन के अनुसार मनुष्य जाति एक है। इसी प्रकार पशुजाति एक है, पक्षीजाति एक है। किन्तु पक्षी जाति में जैसे मोर तोता कौआ आदि तथा पशुजाति में घोड़ा गाय भैंस आदि अनेक उपजातियाँ हैं, इसी प्रकार मानवजाति एक होने पर भी वर्णभेद और जातिभेद के कारण अनेक

उपजातियों में बँटी है। फिर भी यह न भूलना चाहिए कि पशुओं और पक्षियों में जो उपजातियां हैं, वह प्राकृतिक हैं, क्योंकि उनकी आकृति आदि में जन्मजात भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य जाति में ऐसा कोई भी प्राकृतिक भेद नहीं है। मनुष्यजाति की वर्णगत भिन्नता सामाजिक सुविधा के लिए कल्पित की गई है।

समाज, व्यक्ति नहीं है। समाज पारस्परिक सुविधा के लिए व्यक्तियों द्वारा निर्मित एक तन्त्र है। अपना और अपनी जाति का तंत्र व्यवस्थित चलाने के लिए तथा अपने द्वारा खड़े किये हुए समाज को सुखी बनाने के लिए समाज की व्यवस्था की गई है।

व्यक्ति और समाज दोनों का तादात्म्य संबन्ध है। व्यक्तियों के आधार पर समाज टिका हुआ है या समाज के सहारे व्यक्ति जी रहा है, यह कहना कठिन है। फिर भी यह निश्चित है कि व्यक्ति के उत्थान में समाज का उत्थान है और व्यक्ति के विनाश में समाज का विनाश सन्निहित है।

सम्पूर्ण समाज का तन्त्र व्यक्ति के हाथ में है। प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक अंग है और समाज व्यक्तियों से बना है। प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि 'मैं समाज का हूँ और समाज मेरा है, 'जहाँ इस प्रकार की समाजभावना-ज्ञातिभावना विद्यमान रहती है, समझना चाहिए कि वह समाज या ज्ञाति, प्रगति के पथ पर है।

कुटुम्ब या जाति की सुचारु व्यवस्था करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति वर्ण की स्थापना करता है। पर यह वर्ण अगर कुटुम्ब, समाज या

जाति में वर्गविग्रह या वाग्युद्ध खड़ा करते हैं तो मानना चाहिए कि वर्गों ने कुव्यवस्था की, समाज की अथवा जाति की व्यवस्था करने के बदले उनमें अव्यवस्था उत्पन्न की है और वे कर्तव्य करने के बजाय अकर्तव्य कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में समाज या जाति का विधान सुधारना या नया गढ़ना जातिस्थविर का कर्तव्य हो जाता है। जो मनुष्य समाजोत्थान के लिए तन-मन-धन से सतत प्रयत्न करता है और समाज का सुचारु रूप से नियंत्रण और संचालन करता है, वह व्यक्ति समाजस्थविर कहलाता है। समाजस्थविर को सदा स्मरण रखना चाहिए कि वह समाज का सेवक भी है और नायक भी है।

समाज और जाति में किस प्रकार के रीति-रिवाजों का प्रचलन करने से जाति या समाज का हित होगा और किन रिवाजों को बन्द करने से समाज का उत्कर्ष होगा, इस बात पर देश-काल के अनुसार विचार करना और उस विचार को क्रिया का रूप देना समाजस्थविर का कर्तव्य है।

समाज या जाति में कितने मनुष्य बेकार हैं, कितने दुःखी हैं, कितने अज्ञान हैं और किस उपाय का अवलम्बन करने से जाति में ज्ञान, उद्योग एवं रोजगार की व्यवस्था हो, आदि समाज एवं व्यवहार-विषयक एवं विवाहविषयक विचारणीय प्रश्नों को सुलझाना जातिस्थविर का खास कर्तव्य है।

परिपक्व बुद्धिवाला, कर्तव्यपरायण और विचारशील पुरुष जाति की सेवा कर सकता है। स्वार्थी, लालची और मान-

द्वारा मनुष्य जाति की सच्ची सेवा नहीं कर सकता। समाज में बहुतेरे व्यक्ति ऐसे होते हैं जो जाति-सेवक को हतोत्साह करने का उद्योग करते हैं। ऐसे प्रसंग पर समता एवं धैर्य धारण कर कर्त्तव्य में जुटे रहने में ही जातिसेवक की शोभा है।

प्रत्येक जाति में अनुभवी जातिसेवकों की बहुत आवश्यकता है। अगर जाति में या समाज में अनुभवी और विचारक व्यक्ति न हो तो अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की आशंका रहती है। युवक-हृदय जोश में आकर कभी-कभी ऐसे काम को उठा लेते हैं जिसे समाज अपनाने को तैयार नहीं होता। अतएव साठ वर्ष तक समाज या जाति का अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् ही व्यक्ति समाजसेवक बन कर सफलता प्राप्त कर सकता है।

आज अनुभवहीन मनुष्य भी समाजसेवक का पद ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाते हैं। पर जब समाजव्यवस्था करने का दुःसाध्य कार्य सिर पर आ पड़ता है तब दूर खिसक जाते हैं। अतएव आज अनुभवी जातिसेवक न होने के कारण ही समाज में अव्यवस्था दिखाई पड़ती है।

युवकवर्ग पर आज यह आरोप लगाया जाता है कि वे समाज की स्थिति संबन्धी अज्ञान के कारण समाजोद्धार के नाम पर समाज की हानि कर रहे हैं। पर वास्तव में यह बात एकान्त सत्य नहीं है। इससे विपरीत अनेक वृद्ध, युवकों की अपेक्षा अधिक विचारहीन और उच्छृंखल दिखाई देते हैं। वे कुरूढ़ियों को पकड़े बैठे रहते हैं और 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' की नीति का

अनुकरण करके समाज का अहित करते हैं। जब युवक उन कुरूढ़ियों का उच्छेद करने की बात कह सकते हैं तो वे अच्छा ही करते हैं। उन्हें इतना विचार नहीं कि खराब रूढ़ियों के कारण जाति या समाज का अधःपतन हो रहा है। सच्चे समाजसेवक हों तो वे युवकों और वृद्धों को समाजोद्धार का मार्ग बता सकते हैं, पर जहाँ समाजसेवक का ही अभाव हो वहाँ समाजसुधार की क्या कथा ?

समाजसेवक के अभाव में कहीं वृद्ध नहीं, युवक बेकार और आदर्शहीन होकर इधर-उधर भटकते फिरते हैं। सचमुच समाज में बड़ी दुर्व्यवस्था है। जब तक समाज की यह दुर्व्यवस्था दूर न की जाय और सुव्यवस्था स्थापित न की जाय तब तक समाज-सुधार की आशा नहीं रखी जा सकती।

लौकिक जातिस्थविर के समान लोकोत्तर जातिस्थविर भी होता है। लोकोत्तर जाति के नियमोपनियम गढ़ना और उनका पालन करना तथा देश-काल के अनुसार लोकोत्तर जाति में संशोधन करके साधुसमाज को प्रगति के पथ पर ले जाना और इस प्रकार जनसमाज का हित साधन करना लोकोत्तर जातिस्थविर का कर्त्तव्य है।

सारांश यह है कि जाति का सुधार करने के लिए प्रत्येक संभव उपाय काम में लाकर समाज का उद्धार करना समाज-सेवक का कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्यपालन में समाज, जाति और धर्म का कल्याण है।

६

सूत्र स्थविर

(सुत्त–थेरा)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

जगत् में ज्ञान के समान कोई भी दूसरी वस्तु पवित्र नहीं है। जल से शरीरशुद्धि की जा सकती है, पर जीवनशुद्धि–आत्मशुद्धि के लिए तो ज्ञान ही चाहिए। ज्ञान अन्तर–चक्षु है। आन्तरिक चक्षु के प्रकाश से अज्ञानान्धकार दूर भागता है और आत्मा की ज्योति प्रकट होती है। जो व्यक्ति अपने ज्ञान–चक्षु का प्रकाश, अज्ञान-अंधकार में भटकने वाले प्राणियों को दान करता है और उन्हें सन्मार्ग बतलाता है, वह ज्ञानमार्ग का दाता कहलाता है। वह शास्त्र के शब्दों मे 'सूत्रस्थविर' कहा गया है। 'सूत्र' का अर्थ सिर्फ सूत्र को बाच जाना या पढ़ लेना मात्र नहीं है। 'सूत्र' का अर्थ है वस्तुस्वरूप को अपने अनुभव में उतार कर उसका विवेक करना। जो व्यक्ति सूत्रप्ररूपित वस्तु को अनुभव में उतार कर उसे आत्मसात् कर लेता है और अपने अनुभव का जनसमाज में प्रचार करता है वह 'सूत्रस्थविर' कहलाता है। 'सूत्र' का पाठ कर लेना और सूत्रज्ञान को अनुभव में उतारना दोनों भिन्न–भिन्न वस्तु हैं।

सूत्र के शब्दों का पारायण करलेना सरल है, पर उसे अनुभव में उतारना कठिन है। वर्षों तक तप, स्वाध्याय, अनुभवों का प्रयोग करते-करते अन्त में सूत्रार्थों का विवेक प्रकट होता है। तभी सूत्र की 'आत्मा' समझ में आती है। जनसमाज को सूत्र की आत्मा रहस्य-सार समझाना और उसके प्रचार के लिए यथाशक्ति उद्योग करना सूत्रस्थविर का कर्त्तव्य है।

सूत्रज्ञान का प्रचार करने के लिए सूत्रस्थविर सर्वप्रथम जनता को श्रद्धा आत्मविश्वास की उपयोगिता समझाता है। श्रद्धा ज्ञान की भूमिका है। सूत्रस्थविर जब समझता है कि जनसमाज में ज्ञान की भूमिका—श्रद्धा मजबूत होगई है तब वह ज्ञान की महत्ता समझाता है। तदनन्तर वह ज्ञान को क्रिया के रूप में व्यवहरित करने की प्रेरणा करता है। सूत्रस्थविर बराबर समझता है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' अर्थात् श्रद्धावान् व्यक्ति ही सूत्रज्ञान का अधिकारी है। जिस व्यक्ति की जिज्ञासावृत्ति जागी नहीं है, जो सुनने के लिए उत्सुक नहीं हुआ है, जो सचमुच 'श्रावक' नहीं बना है, वह व्यक्ति ज्ञानोपार्जन किस प्रकार कर सकता है? अतएव सूत्रस्थविर सर्वप्रथम ज्ञान-प्रचार के लिए जनसमाज में श्रद्धाबुद्धि और जिज्ञासावृत्ति जागृत करता है और फिर ज्ञान का उपदेश करता है। अज्ञानी अश्रद्धालु और संशयात्मा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

श्रद्धापूर्वक और ज्ञानपूर्वक सूत्रस्थविर सूत्रधर्म के यथावत् प्रचार और पालन करने कराने की सतत चिन्ता रखता है। सूत्र-

ज्ञान का विशेष प्रचार करने के लिए वह जगह-जगह घूम कर उपदेश देता है। अगर कोई जिज्ञासु पुरुष, सूत्रधर्म के सबन्ध में श्रद्धाबुद्धि से किसी प्रकार की शका करता है तो वह शंका का समाधान करता है। यह सब सूत्रस्थविर के कर्त्तव्य हैं।

आजकल अज्ञानांधकार इतना अधिक फैल गया है कि जन-समाज में धर्म के प्रति उदासीनता बढ़ती नजर आ रही है। धर्मोद्योत करने के लिए अज्ञान को दूर करने और ज्ञान का प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। ज्ञान की ज्योति जहाँ प्रकट होगी, वहाँ अज्ञान, अश्रद्धा पल भर भी न टिक सकेंगे। पर प्रश्न तो यह है कि सूत्रस्थविर के विना ज्ञान की जोत जगावे कौन ?

सूत्रस्थविर ज्ञानज्योतिर्धर है। ठाणांग और समवायांग सूत्रों का विशिष्ट ज्ञाता ही सूत्रस्थविर कहला सकता जैसे सूर्य के प्रकाश से अंधकार क्षण भर भी नहीं टिक सकता, उसी प्रकार ज्ञानसूर्य का उदय होने पर अज्ञान और अश्रद्धा का आन्तरिक तम क्षण भर में विलीन हो जाता है।

१०

पर्यायस्थविर--संयमस्थविर

[परियाय-थेरा]

ज्ञानस्य फल विरतिः ।

सूत्रज्ञान जब आचार में उतरता है तब जीवन में संयम प्रकट होता है। और बीस वर्ष पर्यन्त शास्त्र की मर्यादा के अनुसार संयम की साधना करने के पश्चात्, जो व्यक्ति संयतात्मा बनता है– अर्थात् जो अपने शरीर, मन और बुद्धि को ज्ञानपूर्वक आत्मा के वशीभूत बना लेता है जितेन्द्रिय बन जाता है, वह महात्मा पुरुष संयमस्थविर कहलाता है।

संयमस्थविर बनने के लिए कितने ही वर्षों तक सतत ज्ञानो- पासना के साथ आत्मसंयम की क्रिया सीखनी पड़ती है। साधक पुरुष जब वर्षों के वर्ष ज्ञान की उपासना में व्यतीत करता है तब उसे ज्ञानसिद्धि प्राप्त होती है और वह साधक स्वयं सशरीर ज्ञान रूप (ज्ञानमूर्ति) बन जाता है, तो इसमें क्या आश्चर्य है? मगर अकेली ज्ञानसिद्धि से ही तो जीवनसिद्धि हो नहीं जाती।

जीवन-सिद्धि के लिए ज्ञानसिद्धि के साथ-साथ संयमसिद्धि की भी आवश्यकता रहती है। और संयम की सिद्धि के लिए साधक पुरुष को शास्त्रोक्त यम-नियमों को जीवन में मूर्तिमान बनाना पड़ता है। इस प्रकार जब ज्ञान और संयम का, विचार और आचार का मेल होता है तब जीवन-शुद्धि का सौरभ चहुँ ओर फैले और अनेक पुण्यात्माओं के जीवन संयम-सौरभ से सुवासित हों यह स्वाभाविक ही है। पर ज्ञान और संयम का या विचार और आचार का मेल करना हँसी-खेल नहीं है। संयमस्थविर बनना साधारण जन के लिए तो क्या, सब मुनियों के लिए भी कठिन है।

'संयम नो मारग छे शूरा नो' यह गुजराती भाषा की धर्मोक्ति संयमधर्म के पालन की कठिनाई की चेतावनी देती है। संयम का मार्ग कातर पुरुषों का नहीं है। जो व्यक्ति दुश्चर संयम धर्म को जीवन में स्थान देते हैं और ज्ञान-चरित्र का समन्वय करते हैं, वे अपने आपको सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनाते हैं।

पहले जिन दस धर्मों का विवेचन किया गया है उन सब का पर्यवसान संयमधर्म में होता है। संयमधर्म साध्य है, शेष धर्म साधन हैं। संयमधर्म सब धर्मों का सार है। जो पुरुष संयमधर्म को, धर्मों का सार समझकर अपने जीवन में उतारेंगे वे धर्म का अमृत प्राप्त करेंगे और अजर-अमर बनेंगे।

धम्मो मंगलं, धम्मो सरणं।